योग सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष : 39 - अंक : 2

मई, 2006

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

सँवाई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृतकण

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च।।

-महाभारत

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुष को इहलोक और परलोक में कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती।

* * *

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।।
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा।
अधर्म बहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्।।

-पद्मपुराण

जब मनुष्य का शरीर जीर्ण होता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं; किन्तु धन और जीवन की आशा बूढ़े होने पर भी जीर्ण नहीं होती, सदा नयी ही बनी रहती है। तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है। वह सैकड़ों दोषों को ढोये फिरती है। उसके द्वारा बहुत से अधर्म होते हैं; अतः तृष्णा का परित्याग कर दें।

* * *

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्ति पैशुनम्।
दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।

-श्रीमद् भागवद् गीता

मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्रकार से किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण करना, अपने प्रति अपकार करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्तापन का अहंकार न करना, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चंचलता, आसक्ति, क्रूरता आदि दुराचारी गुणों का अभाव होना आदि अच्छी आचार संहिता के लक्षण हैं।

* * *

बुद्धिर्यस्य बलतस्य निर्बुद्धेश्च कुतोबलम्

-चाणक्य

संसार में जिसके पास बुद्धि है वही बलवान है क्योंकि बुद्धि के बल पर ही मनुष्य, जड़-चेतन सभी पर शासन करता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 39
अंक 2

मई
2006

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्।।
त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्।
अनावृतार्गला द्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्।।
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाशते।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया।।

(—महा०, वन० ३।३६-३८)

अर्थात्

'हे सूर्यदेव ! आप अखिल जगत् के नेत्र तथा समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। आप ही सब जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं और सब जीवों के कर्मानुष्ठान में लगे हुए जीवों के सदाचार हैं। हे सूर्यदेव ! आप ही सम्पूर्ण सांख्ययोगियों के प्राप्तव्य स्थान हैं। आप ही मोक्ष के खुले द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओं की गति हैं। हे सूर्यदेव ! आप ही सारे संसार को धारण करते हैं। सारा संसार आपसे ही प्रकाश पाता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आप ही इस संसार का बिना किसी स्वार्थ के पालन करते हैं।'

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) रामलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डा. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई-बहिन

इस अंक में . . .

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज 3
2. सम्पादकीय 7
3. सुमित्रान्त सूर्यवंश – सर्वोपकारी सूर्य 9
4. श्रीमहाप्रभु जी का आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष योगदान – अवनीश भटनागर, सहारनपुर 10
5. प्राप्त और प्रतीति – रामेश्वर खण्डेलवाल, गंगापुर सिटी 16
6. स्वरूप ज्ञान – जनक कुलश्रेष्ठ, ग्वालियर 19
7. भजन – भूपेन्द्र 'अंकुश', जलेसर 23
8. क्रिया योग के दाता महावतारी बाबा जी – वेदव्रत द्विवेदी, उन्नापुर 24
9. गुरु गुण गाए जा – जगदीश बंसल राय 'अधम', गोहाना मंडी 27
10. नादानुसन्धान – स्वामी श्रीएकरसानन्दजी महाराज 28
11. सन्तों में अकर्म की कला – कृष्ण कुमार पाण्डेय, गोरखपुर 32
12. हिमालय के अमर महायोगी – पूर्णचन्द्र पन्त 33
13. वंश-परम्परा और सूर्यवंश 37

एक प्रति	: रु.	10.00
वार्षिक शुल्क	: रु.	110.00
द्विवार्षिक	: रु.	200.00
आजीवन	: रु.	825.00

❑ विशेष लेख

प्राणायाम का फल

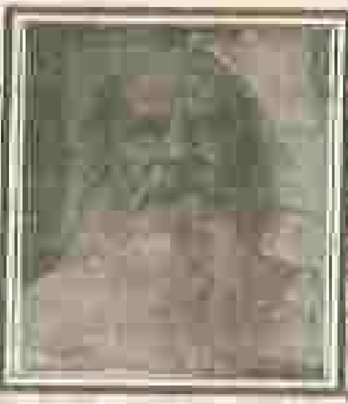

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्राणायाम करने वाला योगी शरीर में रहने वाले विभिन्न प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ प्राणायाम सिद्ध करता है। शरीर का कोई अंग–प्रत्यंग ऐसा नही है जहाँ प्राण की गति न हो। जब शरीर का कोई अंग प्राण की गति से खाली हो जाता है तो वह मृत कहलाता है।

यदि शरीर में व्यापक प्राण अपनी गति को ठीक रखे और अभ्यासी योगी युक्ताहार–विहार होकर अपनी प्राणवायु पर नियन्त्रण रखता है, तो वह अजर–अमर हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है–

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

प्राणायाम का अभ्यासी योगी जब प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ कुम्भक का अच्छा अभ्यास बढ़ा लेता है, तो वह अपने संकल्प से प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहेगा अवश्य ही रोक लेगा। जिस प्रकार एक निशाना लगाने वाला निशानची लक्ष्य–बेधन का परिपक्व अभ्यासी बन जाने के बाद अपने वांछित लक्ष्य को बेध डालता है। इसी प्रकार से प्राणायाम का अभ्यासी कुम्भक जय कर लेने के बाद अपने प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहे रोक लेता है। मनुष्य ज्यों–ज्यों कुम्भक का अभ्यास बढ़ाता है, त्यों–त्यों रजोगुण का और तमोगुण का प्रभाव नष्ट होकर सतोगुण चमकने लगता है ज्यों–ज्यों सत्व का प्रकाश बढ़ता है, त्यों–त्यों प्रकाशावरण क्षय होने लगता है। इसलिए प्राणायाम का फल बतलाते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा है–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

–योग–दर्शन २/५२

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार श्रीव्यासदेव जी लिखते हैं–

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणं कर्म यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसार-निबन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथामोक्तम्-तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलादीनां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के लिए विवेक–ज्ञान के रास्ते में आवरण रूप जो कर्म है वह नष्ट हो जाता है। उस आवरण के नष्ट न होने तक सत्त्व और तम रूप कर्मजाल प्रकाशशील सत्व को ढके रहता है। प्राणायाम का अभ्यासी और अभ्यास के बल से उस सबको क्षय कर डालता है और उसकी ज्ञानदीप्ति बढ़ती जाती है।

इसलिए हमारे शास्त्रों में प्राणायाम से बढ़कर किसी और तप को प्रधानता नहीं दी गई है। योगियों ने प्राणायाम को ही महान तप माना है। प्राणायाम करने से प्रकाशावरण क्षय होकर विशुद्ध ज्ञान की दीप्ति होती है। ज्ञानदीप्ति हो जाने पर योगी को दूर–दर्शन, दूर–श्रवण, दूर–स्पर्शन आदि–आदि क्रियाएँ स्वभाव से ही होने लग जाती हैं। उस योगी के अन्दर यह शक्ति आ जाती है कि यदि वह चाहे तो यहीं बैठे ही हजारों कोसों की बातें सुन ले और वहाँ की सारी स्थिति को देख ले। ये सब सिद्धियाँ योगी को आत्म–साक्षात्कार से पहले ही होने लगती हैं।

योग–दर्शन में तप के फलस्वरूप कायिक ऐन्द्रिय सिद्धियों का स्वभाव से उपलब्ध हो जाना बताया गया है। यथा–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

–योग–दर्शन २/४३

इस सूत्र पर भाष्यकार ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं–

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणामलं तथावरणामलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति।

तप के प्रभाव से इन्द्रियों के मल जल जाने पर योगी को अणिमादि अष्टविधि ऐश्वर्य एवं ऐन्द्रियसिद्धि दूर–दर्शन, दूर–श्रवण आदि प्राप्त हो जाया करते हैं। प्राणायाम के निर्मल फल को पाकर योगी अपने–आपको कृतकृत्य बना लेता है। कुम्भक सिद्ध हो जाने के बाद योगी जहाँ के प्राणवायु पर विजय प्राप्त करता है, उसका फल उसे तत्काल ही अनुभूति में आने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि योगी अपनी प्राण–शक्ति पर इतना नियन्त्रण करले कि किसी भी स्थान पर वह अपने संकल्पमात्र से संयम कर सके। ज्योंही वह अपने मन को किसी स्थान विशेष में एकाग्र करना चाहे वह तत्काल ही वहीं एकाग्र हो जाएँ। हम पहले भी बता चुके हैं कि प्राण का स्थान हृदयदेश है, उदान का कण्ठ, समान का नाभि–मण्डल और अपान का स्थान गुदा भाग है।

उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी जल–पंक–कण्टकादि में असंग हो जाता है। यथा–

उदानजयाज्जलपंकंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।

–योग–दर्शन ३/३९

देखिये इस सूत्र पर व्यास-भाष्य–

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रियापंचतयी। प्राणो मुखनासिका-गतिराहृदयवृत्ति। समनयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः। उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः। व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जलपंक-कंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते।

अर्थात समस्त इन्द्रियों में शक्ति रूप से व्याप्त रहने वाली प्राण की पाँच विभिन्न वृत्तियाँ हैं। प्राणवायु की मुख–नासिका से लेकर हृदय तक गति रहा करती है, इसलिए उसे हृदयवृत्ति कहते हैं। समान–वायु नाभिवृत्ति है अर्थात् वह नाभि तक गति करता है, अपान वायु का अधिकार गुदा से लेकर पैरों तक है, उदान वायु आशिरोवृत्ति कण्ठ–देश से लेकर सिर भाग तक उदानवायु का अधिकार रहता है तथा व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त रहा करता है।

जो योगी प्राणायाम के अभ्यास से उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, पंक तथा कण्टकादि में बिल्कुल असंग हो जाता है और प्रयाणकाल में ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। प्राणायाम के बल से योगी का ऊर्ध्वगति को प्राप्त होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्राणायाम करने से रज और तम का नाश हो जाने पर योगी सत्वस्थ हो जाता है। सत्वस्थ हो जाने पर उसके ऊर्ध्वगति को प्राप्त होने में कोई संदेह ही नहीं रह जाता। जगदात्मा श्रीकृष्ण के शब्दों में–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः,
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः,
अधो गच्छन्ति तामसाः।।

जो व्यक्ति अपने जीवन–काल में सत्वस्थ हो जाते हैं, वे मरणोपरान्त ऊपर के दिव्य–लोकों में वास किया करते हैं। रज प्रधान व्यक्ति मनुष्य लोक तथा तम प्रधान व्यक्ति नीचे के निकृष्ट लोकों को प्राप्त होते हैं।

जो योगी उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, पंक, कण्टकादि में तो असंग हो ही जाता है। साथ ही प्रयाण–काल में ऊर्ध्वगामी भी अवश्य हो जाता है।

पुण्यभूमि भारत में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती ही रहती हैं, जिनके देखने और सुनने में अनायास ही शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुष्टि हो जाया करती है।

अभी कुछ वर्ष पहले ऋषिकेश में एक इस प्रकार की घटना घटित हुई, जिसे देखकर वहां के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। चन्द्रभागा नदी में श्री गंगाजी के तट से लगभग आधे फर्लांग की दूरी पर श्री चन्द्रेश्वर महादेव का एक मन्दिर है। श्री चन्द्रेश्वर महादेव के मन्दिर के बिल्कुल सामने गंगाजी के उत्तरी तट पर पहाड़ों की श्रृंखला है, जिसे वहाँ के

वासी वसुधारा का पहाड़ कहते हैं। गंगाजी के इस पार से यदि कोई व्यक्ति ऊँचे स्वर से ध्वनि करता है तो वह ध्वनि प्रति–ध्वनि होकर आकाश में गूँजती हुई सुनाई देती है। मालूम पड़ता है कि किसी ने पहाड़ से उस ध्वनि का उत्तर दिया हो। श्री चन्द्रेश्वर भगवान के पूजनार्थ आये हुए एवं गंगा स्नान करने वाले व्यक्तियों ने तट पर से यहाँ एक बड़ा भारी आश्चर्य देखा कि गंगाजी के उत्तरी तट से एक–एक पवित्रात्मा महात्मा गंगा–जल पर इस प्रकार चले आ रहे हैं, मानो कि वे पृथ्वी पर चल रहे हों। महात्मा जी शनैः–शनैः गंगाजी के इधर वाले तट पर पहुँचे, किन्तु ज्योंही लोग उनके चरण स्पर्श के लिए दौड़े, त्योंही वे जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार गंगाजी पर चलते हुए वापिस पहाड़ में चले गये। वह **''उदानजयाज्जलपंक कण्टकादिष्वसंगः''** का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

इसी प्रकार समान वायु पर जय का फल योग–दर्शन में इस प्रकार बताया गया है–

समानजयाज्ज्वलनम्।

–योगदर्शन ३/४०

व्यास–भाष्य में–

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति।

संयम द्वारा समान वायु पर जय प्राप्त कर लेने से योगी अग्नि के समान दीप्तिमान हो उठता है। इसके उदाहरण भी समय–समय पर साधकों के शरीरों में घटित होते रहते हैं।

अभी कुछ वर्ष पहले की बात है कि– उत्तर प्रदेश में जिला एटा के गंज डुण्डवारा नामक एक कस्बे में एक पवित्र सन्त गुरुद्वारा में निवास करते थे। वे सिक्ख थे और गुरु नानकदेव जी की उपासना विधि से अपने आपको ध्यानयोग–परायण रखते थे। सभी के शरीर नश्वर हैं। यद्यपि तत्व विजयी योगी लोग कल्पों तक शरीर धारण किये रहते हैं। किन्तु जिन्होंने तत्वों पर विजय प्राप्त नहीं की, उन्हें समय आने पर अपना नश्वर शरीर त्यागना ही पड़ता है। उन महात्माजी को भी प्रयाण का समय आ गया। उन्होंने लोगों के सामने विलक्षण विधि से देह का त्याग किया। उनके संकल्प मात्र से ही उनके नाभि–मण्डल से अग्नि की एक ज्वाला प्रकट हुई, जो उनके शरीर के आस–पास घूमती रही। अग्नि की उस लपट ने थोड़ी देर में ही उनके शरीर का भस्मावशेष कर डाला। साधक अपनी तीव्रतम साधना के फलस्वरूप प्राणायाम के उत्कृष्ट फल को प्राप्त कर सकता है। संयम राजयोग से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्राणों पर नियन्त्रण करके अद्भुत कर्मों वाला योगी "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम" की ताकत वाला हो ही जाता है, इसमें यत्किंचित भी शंका की बात नहीं है। प्राणायाम की इस कठिन विद्या का अभ्यास अनुभवी गुरु के सान्निध्य में ही करना चाहिए।

❊ ❊ ❊

• सम्पादकीय

सत्व का उत्कर्ष कैसे ?

आचार्य (डा०) दासलाल ब्रह्मचारी

'सत्व' एक आध्यात्मिक शब्द है। इसे कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। इसका एक प्रधान अर्थ अन्तःकरण है। योगदर्शन में 'चित्त' को 'चित्त सत्व' कहा गया है जो सतोगुण रजोगुण एवं तमोगुण से अन्वित रहा करता है। श्री मद्भगवद्गीता में भगवान् **'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत'** ऐसा कहकर बतलाते हैं कि प्राणियों के सत्व अर्थात् अन्तःकरण के अनुसार ही श्रद्धा होती है। अन्तःकरण में जैसे-जैसे संस्कार रहा करते हैं उसी के अनुसार सात्विक, राजसी तथा तामसी श्रद्धा हुआ करती है। संस्कृत साहित्य में जीव को भी 'सत्व' के नाम से कहा गया है। विष्णु सहस्रनाम में भगवान् की स्तुति में **सात्वतां पति** कहा गया है। भाव यह है कि सतोगुण प्रधान व्यक्तियों के आप ही पति, स्वामी हैं। इसलिये भगवान् को 'प्राणपति' कहा जाता है। भगवान् सतोगुणी व्यक्तियों के स्वामी व रक्षक हैं। 'विशुद्धसत्व' वाले योगी ही परमात्मा का दर्शन पाते हैं, अन्य नहीं। सांख्ययोग में सत्व को सतोगुण का वाचक माना गया है। चित्त जब सतोगुण प्रधान होता है तभी एकाग्रता आती है और उस एकाग्रता से ही ज्ञान का प्राकट्य होता है।

'योगात् संप्रज्ञायते ज्ञानम्' योग से ज्ञान की उत्पत्ति कही गयी है। सत्व से ही विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है। भगवान् ने गीता के विभूतिपाद में **'सत्वं सत्ववतामहम्'** कहकर यह बतलाया है कि सतोगुणी व्यक्तियों का सत्व मेरी ही विभूति है। चित्त सत्व में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों ही रहते हैं। इनमें से एक प्रधान रहता है तथा अन्य दो गौण रहा करते हैं। इनमें से सतोगुण ही मोक्ष की ओर उन्मुख किया करता है। निर्मल होने के कारण सतोगुण प्रकाशक होता है। लघु एवं प्रकाशक होने से ज्ञान प्रदाता है जिससे अज्ञान एवं कल्मष कष्ट हो जाते हैं। सतोगुणी बुद्धि में ही अक्लिष्ट वृत्तियाँ उदित होती रहती हैं जो आगे चलकर ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं विवेक ख्याति के हेतु बनती हैं। चित्त वृत्तियाँ निरोधावस्था तक निरन्तर चलायमान रहती हैं। सतोगुण की प्रधानता में मन एकाग्र रहता है तथा विवेकख्याति परक वृत्ति का निरन्तर आवर्तन होता रहता है। एक सतोगुणी वृत्ति समाप्त हुई किन्तु अपने ही जैसे अन्य वृत्ति को उत्पन्न कर देती है इस प्रकार से मन एकाग्र रहता है। चित्त की धारा शान्त रहती है। मन संयत रहता है। जिसका मन संयत नहीं है वह योग में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

'असंयतात्मनः योगो दुष्प्राप इति मे मतिः' ऐसा भगवान् का मत है। जो आत्मवशी है एकाग्रचित्त है प्रयत्न करते हुये वह योग के अन्तर्निधि को पा जाया करता है। सतोगुण

से ही ज्ञान प्रकट होता है। गीता में भगवान **'सत्वात् संजायते ज्ञानम्'** कहकर इस बात की पुष्टि करते हैं। सतोगुण से ही चित्त के मल धुलते हैं। इसी की पराकाष्ठा में ऋषियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति हुई और वे 'मन्त्रद्रष्टा' बने। वेद का अलौकिक ज्ञान भी समाधिगम्य ही है। जिसकी समाधि अवस्था नहीं है वह अलौकिक ज्ञान उसके लिये अलभ्य ही रहता है।

सतोगुण की वृद्धि व सत्व के उत्कर्ष के लिये प्रमुखतम साधन है **ध्यानयोग**। इसी के पूरक के रूप में मन्त्र जाप करना होता है। एक ही मन्त्र का जाप प्रतिदिन दो–ढाई घन्टे किया जाये तो इससे मन की एकाग्रता बनती है। मन्त्र जाप करते हुये मन्त्रार्थ का भी विचार अत्यावश्यक होता है। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**– अर्थ की भावना करते हुये मन्त्र का जाप करना चाहिये। बिना अर्थ भावना के किया हुआ जाप फलदायक नहीं होता है। सत्व शुद्धि के लिये आवश्यक है कि साधक का आहार–विहार सात्विक हो। उस सम्बन्ध में उपनिषदों में आया है–**आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः'** सत्व शुद्धि से ध्रुवास्मृति बनती है अर्थात् अन्तःकरण के निर्मल होने पर स्मृति का उपस्थान होता है, जो सब ग्रन्थियों का भेदन करने वाला होता है। जिसके होने पर मन स्वतः ही एकाग्र व समाहित होने लगता है। सात्विक आहार सत्व को बढाने वाला होता है। यम–नियम का पालन भी अपरिहार्य है। इनके पालन के बिना संकल्पशक्ति में दृढ़ता नहीं बनती है। यम–नियम का पालन अन्तःकरण को शुद्ध बनाकर समाधि की पुष्टि में सहायक बनता है। यम–नियम के एक–एक अंग के पालन से अलौकिक शक्ति का संचय व प्रादुर्भाव होता है। बिना इनके पालन किये शुभ संकल्प नहीं बनता।

योगदर्शन में 'सत्व' बुद्धि का पर्यायवाची शब्द है। गीता में बुद्धियोग की बात कई स्थलों पर कही गयी है। 'बुद्धियोग' ध्यानयोग से निष्पन्न होने वाली वस्तु है। जिसके आ जाने पर योगी पाप, पुण्य से आगे निकल जाता है। सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का त्याग हो जाने पर अखण्ड सुख व शान्ति को पा जाया करता है। **'सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्'** सत्व अर्थात् बुद्धि एवं पुरुष दोनों का समान रूप से शुद्धि अविकारी होने पर कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है। समाधि के निरन्तर अभ्यास से ही बुद्धि की निर्मलता, सूक्ष्मता होती है तभी बुद्धि को सभी वस्तुओं का तत्व से ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धि की निर्मलता को ही चित्त शुद्धि कहते हैं। योगी का परम लक्ष्य यही है कि बुद्धि को समाधि के द्वारा परम निर्मल बना ले। इसी से विवेक ख्याति होती है जिससे यथार्थ तत्व का ज्ञान होता है। विवेक ख्याति ही जन्म मृत्यु के बन्धन को काटने वाला होता है। इसलिये योगी का एक ही लक्ष्य रहना चाहिये कि बुद्धि को इतना विशुद्ध बना ले जिससे **'सर्वज्ञातृत्व' सर्वभावाधिकण्ठातृत्व'** जैसे महाशक्तियों का स्वामी बन जाये।

✲✲✲

सुमित्रान्त सूर्यवंश

सूर्यवंशीय राजवंशों का वृतान्त 'बृहद्वल' के बाद आने वाले सुमित्र तक जाता है। उसमें उनतीस राजाओं की नामावली आती है। उस नामावली में सुमित्र अन्तिम राजा है। वायुपुराण में भविष्य के राजाओं का आदिपुरुष प्रथम बृहद्रथ को कहा गया है और अन्य पुराणों में बृहद्वल को। इसी प्रकार विभिन्न पुराणों की उक्त नामावलियों की आलोचना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रम में और नामों में भी थोड़ा–बहुत परिवर्तन अवश्य हुआ है। महाभारत–संग्राम में कोशलाधिपति बृहद्वल भी सम्मिलित हुआ था और वह अभिमन्यु के हाथों से मारा गया–यह महाभारत–युद्ध में योग देने वाले राजाओं की सूची से स्पष्ट है। उसमें भी अनेक नाम ऐसे हैं जो किसी कारण–विशेष से इतिहास में प्रसिद्ध है, परन्तु अधिकतर अप्रसिद्ध ही हैं। विष्णुपुराण (४। २२। १३) में राजाओं के नाम गिनाने के बाद यह श्लोक आया है–

इक्ष्वाकूणामयं वंशस्सुमित्रान्तो भविष्यति।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ।।

अर्थात् इक्ष्वाकुओं के वंश का अन्तिम राजा सुमित्र होगा, जिसके बाद इस वंश (सूर्यवंश) की स्थिति कलियुग में ही समाप्त हो जायेगी। इसका तात्पर्य यह है कि इस वंश के अन्तिम प्रतापी राजा सुमित्र होंगे, किन्तु आज भी भारत में सूर्यवंशीय परम्परा सर्वथा टूटी नहीं है–चल रही है।

सर्वोपकारी सूर्य

देवः किं बान्धवः स्यात्प्रियसुहृदथवाऽऽचार्य आहोस्विदर्यो
रक्षाचक्षुर्नु दीपो गुरुरुत जनको जीवितं बीजभोजः।
एवं निर्णीयते यः क इव न जगतां सर्वथा सर्वदाऽसौ
सर्वाकारोपकारी दिशतु दशशतामीषुरभ्यर्थितं नः।।

जिन भगवान सूर्यनारायण के विषय में यह निर्णय हो नहीं पाता कि वे वास्तव में देवता हैं या बान्धव, प्रिय मित्र हैं (अथवा वेद के उपज्ञ) आचार्य किंवा अर्च्य स्वामी; वे क्या हैं–रक्षानेत्र हैं अथवा विश्वप्रकाशक दीपक, वे धर्माचार्य गुरु हैं अथवा पालनकर्ता पिता; प्राण हैं या जगत् के प्रमुख आदिकारण; बल हैं अथवा और कुछ ! किंतु इतना निश्चय है कि सभी कालों, सभी देशों और सभी दशाओं में वे कल्याण करने वाले हैं। वे सहस्ररश्मि (भगवान् सूर्य) हम सबका मंगल–मनोरथ पूर्ण करें। (सूर्यशतकम् १००)

श्रीमहाप्रभु जी का आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष योगदान

अवनीश भटनागर, सहारनपुर

सिद्धयोग के पिछले अंकों मे आप विज्ञ जनों ने महाप्रभुजी का चिकित्सा क्षेत्र में विशेष योगदान, राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में विशेष योगदान नामक हमारे दो श्रृंखलाबद्ध लेख पढ़े। अब इसी श्रृंखला की अगली कड़ी श्री महाप्रभु जी का आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष योगदान हमारा तीसरा प्रयास आपकी कृपा दृष्टि का विषय बन रहा है और आगे चौथा प्रयास 'श्रीमहाप्रभु जी का यौगिक क्षेत्र मे विशेष योगदान' आपकी कृपा दृष्टि का विषय बनेगा। शुभ आशा रखकर, विश्वास के साथ यह अनुमान लगा रहे हैं कि चाहे संक्षेप में ही सही पर सिद्धयोग के प्रत्येक पाठक को उनकी लीलाओं और उनके द्वारा समाज में किये गये परम कल्याणमय कार्यों का ज्ञान अवश्य ही हो जायेगा, कि हमारे करुणामय श्री रामलाल महाप्रभुजी ने जगत के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्ष अपना अमूल्य योगदान दिया है भले ही समाज के लोग इसका ज्ञान रखते हो या न रखते हों।

मुगलों के पश्चात अंग्रेज आये जिन्होंने भारत की पुण्यभूमि पर जमकर ईसाईयत का प्रचार किया। मुस्लिम और अंग्रेज दोनों विदेशी संस्कृतियों ने हिन्दुओं को भारी मात्रा में मुसलमान और ईसाई बनाया। लोग लालच या डर या दोनों से ही इनके शिकार होते चले गये और इस प्रकार बाहर के क्रूर आक्रमणकारियों ने अपनी संस्कृति को भारतीयता पर थोपा। यह दोनों सम्प्रदाय पश्चिम में मात्र दो हजार वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में आये थे और विदेशी आक्रमणकारियों की तलवार की धार के सहारे अपनी जड़ें पुरातन भारतीय समाज मे गहरी जमा लीं। इससे भारत की सनातन वैदिक संस्कृति संक्रमित हो उठी। विदेशी विचारधाराओं की घुसपैठ हो गयी। लोग शुद्ध मान्यतायें एवं शुद्ध सिद्धान्तों को त्यागकर मिश्रित विचारधारा वाले हो गये। इससे पौराणिक मान्यतायें लुप्त हो गईं। भ्रष्टाचार, व्यभिचार, रोग शोक एवं अराजकता और आडम्बरों का साम्राज्य हो गया। मन्दिरों और धर्मस्थलों की सुरक्षा न के बराबर रह गई। अनेक मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बना दी गई। जिनके प्रमाण इतिहास में विद्यमान है। इससे भारत का धर्मनिष्ठ समाज त्राहि-त्राहि कर उठा।

दीनजनों की आर्तपुकार से अनेक महान विभूतियों ने भारत भूमि पर अवतरित होकर कुछ समय के लिये अपने प्रकाश से इसे प्रकाशित भी किया। जिससे कुछ समय के लिये

शान्ति भी मिली। परन्तु उनके जाने के पश्चात् फिर परिस्थितियां वैसी ही हो गई। दीनजनों की आर्तपुकार बढ़ती चली गई। धर्मनिष्ठ लोगों पर अत्याचार बढ़ता रहा और वह उस परम सत्ता को पुकारते रहे। अन्त में उस परमसत्ता के मन में धराधाम पर पधारने का संकल्प आ ही गया क्योंकि पूर्वकाल में उस परम सत्ता ने यह कह कर अपने भूमि पर आने के कारण को बताया है जिसको संत तुलसी दासजी ने इस प्रकार कहा है **"जब-जब होत धरम की हानि बाढहिं असुर अधम अभिमानी, तब-तब प्रभु धरहिं विविध शरीरा हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।** महाशिव पुराण में भी भगवान शिव ब्रह्माजी को अपने को गुरु के रूप में प्रकट होने का संकेत दे रहे हैं– हे विधाता मैं जन्म और मृत्यु के भय से युक्त अशोभन जीवों की सृष्टि नहीं करूंगा क्योंकि वह कर्मों के आधीन हो दुख के समुद्र में डूबे रहेंगे। मैं तो दुख के सागर में डूबे हुये उन जीवों का उद्धार मात्र करूंगा गुरु का स्वरूप धारण करके उत्तम ज्ञान प्रदान करके उन सबको संसार सागर से पार करूंगा। (शिवपुराण)

अपनी इसी बात को प्रमाणित करने लोगों के कष्ट हरने, संस्कारी जीवों का कल्याण करने एवं लुप्तप्राय: योग रूपी धर्म को पुर्नस्थापित करने के लिये एक साथ अनेक रूप धारण करके एक रूप से पूज्यवर पिता पं० गंडाराम जी के पवित्र गृह में श्री रामनवमी के शुभ दिन अमृतसर पंजाब में प्रकट हो गये। आपका शुभ नाम रामलाल रखा गया। रामलाल अर्थात् जो अपने शरणागत बाल गोपालों को शक्ति सम्पन्न बनाकर राम जैसे जगत बंधु एवं जगत पूज्य बनाने में समर्थ महाप्रभु हैं। इसलिये जिनके "राम जैसे लाल हो वह महाप्रभु रामलाल है।" महाप्रभु श्री रामलाल जी बचपन में जहां कहीं भी देवी देवताओं के चित्र देखते उनको देखकर मुस्कुराते और उनसे बातें करते। महाप्रभु रामलाल जी आगे चलकर एक महान धार्मिक विभूति सिद्ध हुये। इन्होंने आध्यात्मिक जगत में क्रान्ति लाकर रख दी। आध्यात्मिक जगत को अपने महान योग्यतम शिष्यों की श्रृंखला दी। यह सारे शिष्य महान दार्शनिक थे जिन्होंने आध्यात्मिक जगत को नये कीर्तिमान दिये जिससे धार्मिक जगत मालामाल हो गया। इनमें योगिराज हरिहरानंद जी को तत्त्व विजयि महासिद्ध बनाया और उनको अखण्ड समाधि का दान दिया। वह तीन मास में एक बार समाधि से उठते हैं और सदैव युवावस्था को प्राप्त रहते हैं। जबकि उनकी आयु सौ वर्ष से भी अधिक है। श्री गोपालानन्द जी महाराज जो महान कृष्ण भक्त थे इनमें कृष्ण भक्ति कूट–कूटकर भरी हुई थी। यह जब भी वृन्दावन जाते तो वहां जाकर रात्रि में सोते ही नहीं थे क्योंकि इन्हें भगवान श्री कृष्ण ने वृन्दावन में आकर रात्रि में सोने को मना किया था। यह रात–दिन समाधि में लीन रहते थे।

श्री रामलाल महाप्रभु जी ने इनकी कृष्ण भक्ति को देखकर इन्हें जगत में योग प्रचार

करने का महान अधिकार प्रदान किया और लाहौर भेज दिया। वहाँ रहकर वह दिव्य संकीर्तन कराने लगे, दिव्य संकीर्तन में असंख्य लोग उपस्थित होने लगे धारा प्रवाह संकीर्तन में महाप्रभु श्री रामलाल जी का शक्ति प्रवाह भी चलने लगा। जिससे सभी धर्म प्रेमियों को समाधि लाभ मिलने लगा। संकीर्तन में उपस्थित सभी लोग समाधिस्थ हो जाया करते थे। ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी ने श्री प्रभुजी की आज्ञा से श्री कृष्ण प्रेम में लीन होकर दो दिव्य संकीर्तन ध्वनियों की रचना की जब यह ध्वनि इन्होंने महाप्रभु श्री रामलाल जी को सुनाई तो उन्होंने प्रसन्न होकर यह वरदान दिया कि गोपालानंद तुम्हारी ये संकीर्तन ध्वनियां विश्व विख्यात होंगी। जिसका संकीर्तन करके कृष्ण भक्त दिव्य रसामृत का पान कर झूम उठेंगे। परन्तु गोपालानंद तुम्हारे और हमारे नाम को कोई नहीं जानेगा। हमारा कार्य तो यह है कि संसार अंधकार में दिखाई दिया तो लाइट फेंक दी और पीठ फेर ली ताकि कोई जान न सके कि लाईट कहाँ से आई और किसने दी।

आध्यात्मिक जगत को इन्होंने दिव्य संकीर्तन की ध्वनियां प्रदान की जैसे गोविन्द जै–जै गोपाल जै–जै राधा रमण हरि गोविन्द जै–जै। राधे श्याम–राधे श्याम, श्याम श्याम राधे–राधे आदि। जिनका दिव्य प्रभाव आज भी धार्मिक जन मानस पर पड़ रहा है। भक्तगण इन ध्वनियों को गा–गाकर श्री कृष्ण प्रेम में मगन होकर झूम उठते हैं। ब्र० गोपालानन्द को महाप्रभु श्री रामलाल जी की परम कृपा से भगवती कालिका का भी दर्शन एवं वरदान प्राप्त हो चुका था।

महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के महान दार्शनिक कृष्ण प्रेमी योगिराज शिष्य महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज थे। भगवान श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि करोड़ों में कोई एक मनुष्य मुझे तत्वतः जानता है–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः।।

योगेश्वर महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी ने भगवान श्री कृष्ण का साक्षात्कार करके उन्हें स्वतः जान लिया और फिर लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल, लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल अर्थात् तुम्हि जानहि तुमहि हुई जाई। भगवान को तत्वतः जान लेने के पश्चात् उन्हीं का रूप हो गये। उन्होंने अपना समस्त जीवन श्री कृष्ण और उनकी वाणी श्री गीता जी और उनके योग के लिये समर्पित कर दिया। महाप्रभु श्री रामलाल जी के प्रथम दर्शन के समय प्रथम प्रश्न भी यही था कि हे प्रभुजी आप मुझे ऐसा योग सिखाइये जो श्री कृष्ण चुटकी बजाते ही मिल जायें। महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी ने अपने असंख्य यौगिक अनुष्ठान वृन्दावन में रहकर ही परिपूर्ण किये और वृन्दावन में ही उन्हें महाप्रभु श्री रामलाल जी ने सद्गुरु सत्ता कीमहान संपदा अति कृपा कर सौंप दी थी। सद्गुरु देव

श्री चन्द्रमोहन जी और श्री कृष्ण दोनों दो शरीर और एक तत्व वाली बात है। ऐसे बहुत सारे ध्यानि भाई बहिन जगत में विद्यमान हैं जिन्होंने भगवान श्री कृष्ण के रूप में सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी के दर्शन किये हैं। महान योगिराज, खेचर सिद्ध, पूज्यपाद देवरहा बाबा जी ने गुरुदेव महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी की स्तुति करते हुये कहा था कि श्री चन्द्रमोहन जी साक्षात् वृन्दावन बिहारी श्री कृष्ण हैं और मेरी आत्मा हैं, और गुरुदेव महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी को पीताम्बर पहिना कर शीश पर पगडी मोर मुकुट बांधकर सम्मान किया था। योगेश्वर महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन जी ने जगत में गीता को आधार बनाकर योग का प्रचार किया उनके प्रवचनों और साहित्य में भगवान श्री कृष्ण के चरित्र बहुतायत से मिलते हैं। उन्होंने अपने द्वारा शिक्षित एवं दीक्षित शिष्य समाज को वेद, उपनिषद, एवं स्मृति व पुराण योग आदि की शिक्षा देकर धर्मग्रन्थों की मर्यादा कायम की। उनका स्वाध्याय कराया जिससे आध्यात्मिक जगत में निराली जगमगाहट देखने को मिली।

महंत बाल कृष्ण दास वैरागी भी महाप्रभु श्री रामलाल जी के श्री चरणों में भगवद दर्शन की इच्छा लेकर आये थे। उनका श्री प्रभुजी के श्री चरणों में यह प्रश्न था कि क्या कलियुग में श्री राम के दर्शन हो सकते हैं। श्री महाप्रभु जी ने उत्तर दिया कि हाँ हो सकते हैं। और दिव्य शक्ति संचार देकर उनको उनका मनोरथ प्रदान किया। महाप्रभु श्री रामलाल जी की दिव्य कृपा से उन्हें श्री राम का साक्षात्कार प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी महंत की चाँदी की कुर्सी और सोने की छतरी को ठोकर मार दी और कहा कि यह सब अंधकार बढ़ाने वाली वस्तुऐं हैं और जबकि वास्तविकता तो श्री प्रभुजी के चरणों में है। तत्काल उन्होंने श्री महाप्रभुजी की चरण शरण ग्रहण की।

शलमा को भी जगत के प्रपंच धारी झूठे साधुओं ने जमकर ठगा था। शलमा को भी भगवान नारायण के प्रत्यक्ष दर्शनों की चाह थी। किसी योगाभ्यासी गृहस्थी ने उसे मार्ग बताया भी था उससे उसे आध्यात्मिक उन्नति भी प्राप्त हो रही थी। इतने में उसे कोई वेदान्ती महात्मा मिला उसने उसे बहका कर योगमार्ग से हटा दिया और उसके बाल कटवा कर अहं ब्रह्मास्मि कहना सिखा दिया। उससे कुछ नहीं बन सका फिर एक सन्यासी ने भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन कराने का आडम्बर रच कर उससे बहुत साधन, अन्न वस्त्र झटक लिये परन्तु शलमा का मनोरथ पूर्ण न हो सका। वह साधुओं को गाली देने लगी। जब श्री महाप्रभुजी अयोध्या पहुंचे उन्होंने शलमा को तीव्र शक्तिपात देकर भगवान नारायण के चतुंभुजी रूप के दर्शन करा दिये। इससे शलमा को आध्यात्मिक लाभ तो हुआ ही साथ ही धर्म में निष्ठा परिपक्व हुई और श्री रामलाल महाप्रभु जी की परम कृपा से वह हजारों जीवों को आध्यात्मिक राह दिखाने वाली बनी।

परम योगिनी माता द्रौपदी देवी ने महाप्रभु श्री रामलाल जी के श्री चरणों में आकर परम योग्यता प्राप्त की वह भगवान विष्णु के चतुर्भुजी रूप में सदैव लीन रहती थी। ध्यानी लोगों को माता द्रौपदी देवी भी चतुर्भुज ही दिखाई देती थी। इसलिये श्री महाप्रभुजी उनको चतुर्भुजा के नाम से ही सम्बोधित करते थे। आगे चलकर माता द्रौपदी देवी जी की योग्यता श्री महाप्रभुजी की कृपा से बहुत अधिक बढ़ गई और वह भगवान श्री कृष्ण का आवाहन करती तो वह चौकी पर आ विराजते और माता द्रौपदी देवी जी अपने हाथों से उनको भोजन कराती थी।

श्री रामलाल महाप्रभुजी के श्री चरणों में एक वैरागी साधू निवास करता था। श्री प्रभुजी ने एक दिन उस पर तीव्र शक्तिपात कर दिया उसका सारा छुआछूत धरा रह गया। उसको सारा जगत नारायण मय दिखाई देने लगा। जित देखू तित श्यामहि श्याम ऐसी स्थिति बन गई। एक दिन कहीं से एक सांड आ गया। वैरागी उस समय भोजन कर रहा था। वह एक कौर सांड के मुंह में देता और एक कौर अपने मुंह में रखता। इतने में किसी ने सांड को पत्थर मार दिया। सांड दूर चला गया तो वह वैरागी चिल्लाया अरे तुमने मेरे भगवान के पत्थर मार दिया। अर्थात उसको सारा जगत नारायण मय दीख रहा था। वह जिधर भी देखता था उसको सियाराममय सब जगजानी करहु प्रणाम जोरे जुगपाणि वाली दृष्टि ही रहा करती थी।

योगिराज नरसिंह मूर्ति जी द्वारा श्री राधा जी की प्रतिमा उल्टी कर देने पर श्री रामलाल महाप्रभुजी ने उन्हें बहुत डांटा था और कहा था कि जाने दे ऐसा मत कर यह शक्ति है शक्ति का अपमान मत कर कहीं ऐसा ना हो तुझे इसे पाने के लिये दूर–दूर भटकना पड़े। समय ऐसा ही आया श्री महाप्रभुजी के मुख से शब्द निकले थे वैसा ही हुआ श्री कृष्ण राधा के प्रेम में मगन होकर उनकी प्राप्ति के लिये सखी का भेष रखकर श्री नरसिंह मूर्ति जी वृन्दावन में दर–दर भटके थे।

दीर्घजीवी पूज्यपाद योगिराज देवरहा बाबा जी का नाम आध्यात्मिक जगत में बहुत आदर से लिया जाता है। श्री देवरहा बाबा जी ने श्रीकृष्ण की नगरी में रहकर श्री कृष्ण की भक्ति को जगत में प्रसारित किया और साथ ही रामजन्म भूमि अयोध्या का समर्थन करके जगत को राममय कर दिया था। पूज्यपाद देवरहा बाबा जी अपनी जिस योग्यता से इतने प्रसिद्ध थे वह थी खेचरी मुद्रा और वह उनको महाप्रभु श्री रामलाल जी ने मुरादाबाद के जंगल में सिद्ध कराई थी। इसी कारण से वह श्री महाप्रभुजी को सम्मान की दृष्टि से देखते थे और वह उनको अपने को बनाने वाले सद्गुरुदेव कहा करते थे।

श्री रामलाल महाप्रभुजी के दूसरे अवतार श्री महाअवतार बाबा जी के पौत्र शिष्य श्री

योगानन्द जी परमहंस जिन्होंने ऑटो बायोग्राफी ऑफ द योगी लिखी। जिसको सारे संसार में पढ़ा गया। और वह अमेरिका भी गये। उन्होंने विदेशों में खूब धर्म की बात कही।

उपरोक्त में हमने इतने धर्मावलम्बी महान पुरुषों का वर्णन अति संक्षेप में किया है। इससे हमारा अभिप्राय यह रहा कि यह सब महाप्रभु श्री रामलाल जी की परम कृपा से ही हो सकता है। उन्होंने ही इन सब महान विभूतियों को जो उनके श्री चरणों में आने से पूर्व अति साधारण जीवन जी रहे थे। परन्तु महाप्रभु श्री रामलाल जी के सम्पर्क में आते ही उन्होंने अपनी शक्ति देकर यह बना दिया जिससे आज संसार में उनकी पूजा होती है। उनकी चर्चा होती है। उनकी जय-जयकार होती है। इन सबके पीछे महाप्रभु श्री रामलाल जी की दिव्य शक्ति का प्रभाव है। इन सब विभूतियों ने आध्यात्मिक जगत को अपने दिव्य योगदान से मालामाल कर दिया क्योंकि इन महान विभूतियों ने महाप्रभु श्री रामलाल जी की परम कृपा से ईश्वरीय सत्ता का साक्षात्कार किया और बाद में इन्होंने जनमानस को कराया भी। इससे जनमानस में यह भावना बनी कि ईश्वर है और वह हमें देख रहा है। हमें मर्यादित रहना चाहिये। हमें बुरे कर्मों से बचकर शुभ कर्मों की ओर सदैव अग्रसर रहना चाहिये ताकि हम निर्वाण पद को प्राप्त हो सके। तो यह तो था श्री रामलाल महाप्रभु का आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष योगदान। योग के क्षेत्र में विशेष योगदान इस श्रृंखला के अगले भाग में होगा।

❋ ❋ ❋

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः।।

(वन० १/२६)

दुष्ट मनुष्यों के दर्शन से, स्पर्श से, उनके साथ वार्तालाप करने से तथा एक आसन पर बैठने से धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी कार्य में सफल नहीं हो पाते।

प्राप्त और प्रतीति

–रामेश्वर खण्डेलवाल, गंगापुर सिटी

दो वस्तुएं हैं–प्राप्त और प्रतीति। प्राप्त है 'परमात्मा' और प्रतीति है 'संसार'। जो प्राप्त है वह दीखता नहीं और जो प्रतीत हो रहा है वह रहता नहीं।

'मैं' हूं–यह जो अपनी सत्ता है, अपना होना पन है, यह प्राप्त है। कारण कि जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा इन अवस्थाओं में अपनी सत्ता का कभी भी अभाव नहीं होता। परन्तु यह सत्ता दीखती नहीं। जो शरीर और संसार दिखायी दे रहे हैं, उनकी केवल प्रतीति हो रही है। वास्तव में उनकी सत्ता नहीं है। जो प्राप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता। वह सबको सदा ही प्राप्त है। परन्तु उसकी प्रतीति नहीं होती अर्थात् उनका ज्ञान नहीं होता। जैसे आँख से संसार दीखता है, पर आँखों को किससे देखें ? ऐसे ही जो सबको जानने वाला है, सबका प्रकाशक है, उसको किससे देखें ?

जो प्रतीत हो रहा है वह संसार कभी एकरस रहता नहीं। वह प्रतिक्षण बदल रहा है। यह सबके अनुभव की बात है। यदि संसार रहने वाला होता तो वह बदलता कैसे ? परन्तु इस बात को जानते हुए भी हम इसे मानते नहीं, प्रत्युत संसार को 'है' मान लेते हैं। जिस 'है' से यह संसार प्रकाशित हो रहा है यह दिखायी दे रहा है उसको प्राप्त करने में बड़ी कठिनता मानली, परन्तु जो नित्य प्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया और जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसको प्राप्त मान लिया। जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों एक ही जाति के हैं। ये नित्य प्राप्त हैं, नित्य रहते हैं। अब जो नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति के लिए क्या करें ? कुछ नहीं करें। कुछ नहीं करने का मतलब आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद, नहीं है। कुछ नहीं करने का अर्थ है–जो 'है' उसमें स्थित हो जाये।

गीता में कहा है–**'आत्मसंस्थ मनः कृत्वा किंचदपि चिन्तयेत।'** तात्पर्य है कि जो आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है, उसमें स्थित हो जाओ। चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि चिन्तन उसका किया जाता है जो दूसरा होता है अलग होता है इसलिए अपने स्वरूप को पहचान कर उसमें स्थित हो जाना है। वैसे तो सभी मनुष्य 'स्व' में स्थित रहते हैं पर अपने 'स्व' को भूलकर शरीर को मान बैठा और अपनी स्थिति में उसे गिर कर सुख–दुःख का भोक्ता बन बैठा। सुख–दुःख में सम कब होता है जब वह अपने 'स्व' में स्थित रहता है।

'स्व' में स्थित होने के लिए चिन्तन की जरूरत नहीं है। अपने 'स्व' में जितनी देर

ठहर सको उतना ठहर जाओ। कोई विचार या कोई स्फुरणा पैदा हो उसको सत्ता मत दो वह अपने आप नष्ट हो जाएँगे। जो नष्ट होने वाली वस्तु है उसका ख्याल क्या करना ? विचार आ रहे हैं, जा रहे हैं उनको महत्व मत दो। एक लहर उठी, शान्त हो गई। उसकी उपेक्षा करो उदासीन हो जाओ। जैसे हमने देखा ही नहीं। अपने असली स्वरूप में स्थित हो जाओ। हम शरीर नहीं है, इन्द्रिय नहीं है मन, बुद्धि भी नहीं है, तो हम क्या है इसको पहचान कर अपने आप में स्थित हो जाओ।

हम मन को रोकने के लिए बहुत मेहनत करते है, पर मन रुकता नहीं मन को रोकना है तो मन को चलाना भी नहीं है। मन जैसा है, वैसा छोड दो उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। सारे संकल्प–विकल्प अपने आप मिट जायेंगे जानबूझ कर मिटाने की चेष्टा करना ही उनको सत्ता देना है। जैसे किसी ने तुम से भला बुरा कहा और तुमने उसका कोई जवाब नहीं दिया या उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया तो वो अपने आप वहां से चला जायेगा और अगर तुमने उसकी बातों का जबाव दे दिया तो विवाद बढ जायेगा और तुम उसमें उलझ जाओगे। ठीक इसी तरह मन में उठने वाले विचारों पर ध्यान मत दो विचार आयेंगे और अपने आप चले जायेंगें।

चिन्तन या तो भूतकाल का होता है या भविष्यकाल का। वर्तमान का चिन्तन नहीं होता। अतः जो वर्तमान में है ही नहीं उसको 'है' मान लिया—यही गलती की है। उसको 'है' मानकर मिटाना चाहते है तो यह मिटाना नहीं हुआ, प्रत्युत उसको दृढ करना हुआ। जो घटना बीत गयी, वह अब है ही नहीं और जो घटना भविष्य में हो सकती है, वह भी अब नहीं है। जो अभी है ही नहीं, उसको पकड़ते हो, पर जो परमात्मा अभी है उसकी तरफ देखते भी नहीं। बड़े आश्चर्य की बात है, जो है नहीं उसका चिन्तन करते रहते हैं और जो हमें प्राप्त नहीं है उसमें खोये रहते हैं लेकिन जो है उसको याद ही नहीं करते।

वर्तमान तो एक मात्र परमात्मा ही है। भगवान कहते है–

वेदाहं समतीतानी वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वद न कश्चन।। (गीता ७/२६)

'जो प्राणी भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में है और जो भविष्य में होंगे उन सबको मैं जानता हूँ पर मेरे को कोई नहीं जानता।'

परमात्मा के लिए सब कुछ वर्तमान ही है। अतः वर्तमान में सत्तारूप से एक परमात्मा ही है। परमात्मा है और सदा ही प्राप्त है–इस पर दृढ़ रहना है। चाहे कितनी ही उथल–पुथल हो जाय, वह सदा ज्यों का त्यों रहता है संसार तो निरन्तर बहता रहता है, पर वह परमात्मा 'है' रूप से सदा रहता है।

मनुष्य का सम्बन्ध केवल प्रभु के साथ ही है। प्रकृति और प्रकृति के कार्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध कभी था ही नहीं और रहेगा नहीं। कारण कि मनुष्य साक्षात परमात्मा के सनातन अंश हैं, अतः उनका सम्बन्ध प्रकृति के साथ कैसे हो सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह मन और बुद्धि को भगवान का समझ कर भगवान के अर्पण कर दे फिर उसको स्वाभाविक भगवान की प्राप्ति हो जायेगी। "नामेवैष्यस्य संशयम्" मेरे में मन बुद्धि अर्पण करने वाला होने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कारण कि मैं तुझे नित्य प्राप्त हूँ। अप्राप्ति का अनुभव तो कभी प्राप्त ना होने वाले शरीर और संसार को अपना मानने से, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही होता है।

परमपिता परमेश्वर से हमारा सम्बन्ध हमेशा का है और हमेशा रहेगा। भगवान वास्तव में हमारे हैं, हम माने तो हमारे और ना माने तो भी हमारे ही रहेंगे। हम सब उनके अंश है और वो अंशी हैं। हम उनसे कभी अलग नहीं हो सकते। बस हमसे गलती ये होती है कि शरीर और संसार को हमने अपना मान लिया इसके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ गया। असत् के साथ सम्बन्ध जोड़ना और सत से दूर हो जाना ये ही हमारी सबसे बड़ी भूल है।

परमपूज्य गुरुदेव अपने बालकों को हमेशा अपने आशिर्वचनों में कहा करते हैं कि जो सदा से अपना है और सदा वो हमारा ही रहेगा उसको हमेशा याद रखना है। उनका स्मरण हर समय करते रहना है। खाते–पीते, उठते–बैठते, घर गृहस्थ का कार्य करते हुए भी उसका स्मरण करने का अभ्यास करो। जैसे स्त्रियाँ सिर पर जल का कलश रख कर चलती है अपने दोनों हाथों को खुला रखती और दूसरी औरतों के साथ बातें करती हुए चलती हैं। परन्तु सिर पर रखे हुए घड़े का निरन्तर ध्यान रखती है। माँ अपने बच्चे को छोड़कर खेत–खलिहान में अपना कार्य करती है परन्तु उसका ध्यान हमेशा अपने अबोध बालक पर ही रहता है। ठीक इसी तरह हमको भी अपने दैनिक जीवन के सारे कर्म करते हुए अपने परमपिता का हमेशा चिन्तन करते रहना चाहिए।

हर कार्य को परमेश्वर का कार्य मान कर करो। उससे हमारा कर्म कर्मयोग बन जायेगा साथ ही हम हमेशा परमात्मा से जुड़े रहेंगे। मन ही मन परमात्मा को भी धन्यवाद करते रहो कि मेरा अहो भाग्य कि मेरा शरीर मेरे परमेश्वर के कार्य में लगा हुआ है। लेकिन आज के समय में हम इसके विपरीत कार्य कर रहे हैं। हम हमारे कर्मों का खुद को कर्त्ता मान बैठे। उनके अच्छे में बुरे में हम सुख–दुःख का अनुभव करने लगे। जब हमारा शरीर ही अपना नहीं, जिससे हम कार्य कर रहे हैं तो हम जो कर्म कर रहे है वो हमारे कहाँ से हो जायेंगे। जो हमारा है उसको हम अपना नहीं मान रहे लेकिन जो हमारा नहीं उस पर पूरी तरह आसक्त हो रहे हैं।

***

स्वरूप ज्ञान

–जनक कुलश्रेष्ठ, ग्वालियर

पारिवारिक मोह से ग्रसित हुए अर्जुन को भगवान श्री कृष्ण जी ने सर्वप्रथम अन्वय विधि से उपदेश दिया–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। *(२/११ गीता)*

अर्थात् हे अर्जुन ! जिन पारिवारिक सगे सम्बन्धियों के लिए तुम शोक करते हो, यह उचित नहीं है; क्योंकि इस शरीर में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। (१) गतासू अर्थात् नाशवान (२) अगतासू अर्थात् अविनाशी। जाग्रत मन, प्राण, शरीर और इन्द्रियां तथा सारा जगत गतासू–मर्त्य है। आत्मा और सुषुप्तिका मन अगतासू अर्थात् अमर है, जिनका कभी नाश नहीं होता है।

अब भगवान इसी बात को व्यतिरेक विधि से उपदेश देकर कहते है। तुम, मैं, और ये सगे–सम्बन्धी पहिले नहीं थे, यह बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि हम सब पहिले भी थे और आगे भी रहेंगे; क्योंकि आत्मा अमर व अविनाशी है और ये शरीर नाशवान है। इसका भाव यह है कि आदि और अन्त में जो रहता है, वह मध्य में भी रहता है और जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह मध्य में भी नहीं रहता है। मध्य में वह पदार्थ मात्र भासमान होता है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। २/२८

अर्थात् इन सगे–सम्बन्धियों के शरीर जन्म से पूर्व नहीं थे और मरने के बाद भी नहीं रहेंगे। सिद्धान्त है कि जो वस्तु आदि और अन्त में न हो, उसका अस्तित्व मध्य में कैसे हो सकता है। अतः इनके शरीर मृगमरीचिका की भांति भासमान हो रहे हैं वास्तव में हैं नहीं।

जिस प्रकार से मनुष्य के स्थूल शरीर में बचपन, युवावस्था, और वृद्धावस्था आती है और चली जाती है। उसका किसी को भान नहीं होता है, उसी प्रकार देहान्तर प्राप्ति अर्थात् मृत्यु के बाद दूसरा शरीर धारण करने की क्रिया से धीर मनुष्य मोहित नहीं होता है।

जो मनुष्य इस अविनाशी आत्मा को मारने वाला और मरने वाला मानता है, वह उसके

असली तत्व को नहीं जानता है; क्योंकि यह आत्मा न कभी मरता है और न मारा जाता है। इस आत्मा का न जन्म होता है और न मृत्यु होती है। जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को त्यागकर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार यह जीव बना हुआ जीवात्मा अपने पुराने शरीरों को त्यागकर नवीन शरीरों में, मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को साथ लेकर प्रवेश करता है। इसलिये तुमको शोक रहित होकर, बिना फलेच्छा के अपने कर्तव्य रूप क्षात्र धर्म का पालन करते हुए युद्ध करना चाहिए।

यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर अपने नहीं है। जो वस्तु अपनी होती है, उस पर अपना अधिकार होता है। यदि ये शरीर अपने होते तो अपने कहने पर चलते; परन्तु इस शरीर में बचपन आया, चला गया। युवावस्था आई चली गई और अब वृद्धावस्था आई और जा रही है। यदि अपना होता तो सदा एक सा रहता, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार शरीर से सम्बन्धित ये सगे–सम्बन्धी भी अपने नही हैं। कारण कि इनके शरीर प्रकृति के हैं। जीव ने इनमें अहंता ममता के कारण इनको अपना मान लिया है। इसी कारण जीव को इनके लिये मोह होता है। यदि जीव प्रकृति की वस्तु को प्रकृति को दे देवे अर्थात प्राकृतिक शरीर को समाज की सेवा में निष्काम भाव से लगा दें तो उसे कभी दुःख नहीं होगा। कारण कि जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है और प्रकृति से भिन्न है।

संसार के समस्त कार्य प्रकृति और उसके गुणों के द्वारा हो रहे हैं; परन्तु जीव अहंकार वश उन कार्यों को अपने द्वारा किया हुआ मान लेता है–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। 3/27

अर्जुन ने भगवान से कहा था कि युद्ध से कुल का नाश हो जायेगा कुल का नाश होने पर कुल धर्म नष्ट हो जायेगा। धर्म के नष्ट होने पर अधर्म की वृद्धि होगी। अधर्म की वृद्धि से कुल की स्त्रियां दूषित हो जायेंगी। ये दुष्टा स्त्रियां वर्ण संकरों को उत्पन्न करेंगी। पितरों को उनके द्वारा पिण्ड आदि देने पर वे उसका ग्रहण नहीं करेंगे। फलतः पितरों का भी पतन हो जायेगा।

अर्जुन की इस कुशंका का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि तीनों लोकों में मेरे लिए किसी भी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। तथा तीनों लोकों में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो मुझे अप्राप्त हो; फिर भी मैं अपना कर्तव्य करता हूँ। यदि मैं अपना कर्तव्य नहीं करूं तो मैं वर्ण संकरता को उत्पन्न करने वाला समझा जाऊँगा। हे

अर्जुन ! तुम अपने क्षात्र धर्म को त्याग कर भिक्षुक (ब्राह्मण) धर्म अपना कर एक वर्ण के कर्त्तव्यों को त्यागकर अन्य वर्ण के धर्म को अपनाते हो तो तुम वर्ण संकरता उत्पन्न करने के भागी बन जाओगे। वर्णसंकरता वह होती है जब एक वर्ण का व्यक्ति अपने से भिन्न वर्ण के धर्म का आचरण करता है। परिणाम यह होगा कि वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो जायेगा। ब्राह्मण अपने धर्म शम, दम, शौच, शांति, आर्जव आदि को त्याग देगा तथा क्षत्रिय अपने धर्म, शौर्य, तेज, धृति, युद्ध करना, शासन करने के कर्त्तव्य को त्याग देगा तो समाज विश्रृंखल हो जायेगा। समाज की वर्ण व्यवस्था भंग हो जायेगी। देश का पतन हो जायेगा। (वर्तमान समय में समाज की यही दशा हो गई है। ब्राह्मण जूतों का व्यापार कर रहे हैं और क्षत्रिय वैश्य का कार्य कृषि आदि कर रहे हैं)।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। 3/24

तू क्षत्रिय है युद्ध करना तेरा धर्म है। इसलिये निर्लेप्य, निष्काम रहकर तू युद्ध कर।

यदि तुम युद्ध नहीं करते हो तो तुम्हारे शत्रु तुम्हें युद्ध से पलायन होने का दोष देकर तुझे अति निंदनीय शब्दों से सम्बोधित करेंगे। तब तुम क्षत्रिय होने के नाते बलात युद्ध करोगे।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। 3/33

अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति भी अपनी प्रकृति या स्वभाव के अनुसार ही कार्य करते हैं। संसार के जितने प्राणी है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करते है। इस कारण तुमको भी तुम्हारी क्षात्र–प्रकृति बलात युद्ध करने को विवश कर देगी। इस कारण भी तुमको स्वतः प्राप्त इस युद्ध को अवश्य करना चाहिये।

भगवान ने कहा कि मेरे जन्म, कर्म दिव्य होने के कारण मैं प्रकृति के समस्त पदार्थों में व्याप्त हूं। मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और संहारकर्ता हूं। सारा विश्व मुझ में ही ओत–प्रोत है।

''मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगण इव''।

जिस प्रकार सूत्र में मणियां (मनके) गुथे होते हैं। उसी प्रकार यह सारा विश्व मुझमें ओत–प्रोत है। मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है। मैं उन सब में हूं परन्तु वे मेरे में नहीं हैं। यही मेरा योग ऐश्वर्य है।

"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। ९/४
"न च मत्स्थानि पश्य मे योगमैश्वरम्।। ९/५

यद्यपि भगवान ने अपना योग एश्वर्य वाणी से व्यक्त किया था, अर्जुन को विश्वास न होने के कारण उनके इस एश्वर्य को अपनी आँखों से देखने की आकांक्षा हुई। भगवान ने अपना विराट स्वरूप दिखाकर यह बता दिया कि इस सब घटनाक्रम का होना अवश्यम्भावी है। तुम तो "निमित्त मात्र भव शव्यसाचिन" अर्थात् मात्र निमित्त बन जा। इसमें तुम कर्त्तापन के अपने अभिमान को त्याग कर आने युद्ध रूपी कर्म को करो।

अन्त में अपना कल्याण चाहने वाले अर्जुन ने भगवान से कहा "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**" २/७। इसलिये भगवान उसके कल्याण करने की इच्छा से कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। १८/६२

अर्थात अपनी मन, बुद्धि मुझे अर्पित करके सब प्रकार से मेरी शरण में आ जा। इससे तुम परम शांति को प्राप्त हो जाओगे। मन के संकल्प–विकल्पों को छोड़कर पूर्णतः मेरी शरण मे आ जा। मैं तुझको उन समस्त विचारों से मुक्त कर दूंगा, जिनको युद्ध रूपी कर्म करने से तुम अपने को पापी समझते हो। कर्त्तव्य कर्म करने से मनुष्य समस्त संचित कर्मों को दग्ध करके, निष्पाप हो जाता है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। १८/६६

इस प्रकार भगवान् द्वारा दिये गए इस गुप्त रहस्य को समझने के उपरान्त अर्जुन को अपने स्वरूप का बोध हो गया और कहने लगा–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। १८/७३

अर्थात् अब मेरा पारिवारिक मोह नष्ट हो गया। मैं अपने स्वरूप को जान गया हूँ। मैं तो स्वरूपतः अकर्ता, अभोक्ता, अविकारी हूँ। मेरा सन्देह नष्ट हो गया है। अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

(क्रमशः)

भजन

—भूपेन्द "अंकुश" जलेसर

बड़ी मुश्किल से नर तन ये पाया।
मोह माया में क्यों रे ! भरमाया।।
आदमी तू महामूरख।

ये तेरा जीवन जो है दिना दो चार का है;
सुमिर ले राम को तू वक्त मँझधार का है;
चुकता कर दे तू अपना बकाया
मोह माया में १

योनि चौरासी का रे ! बुरा है ऐसा चक्कर;
चक्र जो मारे टक्कर बना देता घनचक्कर;
तन को कितनी दफा खोया पाया।
मोह माया में २

अरे ! माटी के पुतले ! रँगा जग के रंगों में;
बिताया अब तक तूने समय दंगों जंगों में;
कभी रोया कभी मुस्कराया।
मोह माया में ३

राम का नाम सच्चा और सब झूठा झूठा;
ग्रन्थ कहते हैं उसको अनोखा और अनूठा;
है माया तो ईश्वर की छाया।
मोह माया के ४

❋❋❋

''क्रिया योग के दाता महावतारी बाबा जी''

प्रेषक-वेदव्रत द्विवेदी (उमापुर)

क्रिया शब्द संस्कृत कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है कार्य–कारण का नैसर्गिक नियम। अतः क्रिया योग का अर्थ होता है– "एक विशिष्ट कर्म या विधि (क्रिया) द्वारा अनंत परमतत्त्व के साथ मिलन (योग)।" इस विधि का निष्ठापूर्वक अभ्यास करने वाला योगी धीरे–धीरे कर्म बन्धन से या कार्य–कारण सन्तुलन की नियमबद्ध श्रृंखला से मुक्त हो जाता है।

क्रिया योग एक प्राचीन विज्ञान है, इस प्राचीन एवं गुप्त परा विद्या के दाता आधुनिक भारत के योगयोगेश्वर परम् करुणा निकेतन अनादि महासिद्ध महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज (बाबा) जी हैं। जिन्होंने विशुद्ध ज्ञान देकर लाहिड़ी महाशय को योग की 'चरम लक्ष्य' की साधना तक पहुँचाया। जिनका प्रसंग मात्र सुनने से एवं महावतारी बाबा जी के नियम पूर्वक बताये हुए मार्ग पर चलने से साधक ध्यान–पारंगत (मोक्ष परायण) सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

भगवान श्री कृष्ण भी यही बात कहते हैं "मैं ही (अपने एक पूर्व अवतार में) यह अविनाशी योग एक प्राचीन ज्ञानी विवस्वत (सूर्य) को दिया था, विवस्वत ने इसे अपने पुत्र महान् स्मृतिकार मनु को और मनु ने सूर्यवंश के संस्थापक इक्ष्वाकु को दिया तथा घोर कलियुग में सिद्धयोग के संस्थापक योगयोगेश्वर योगिराज जी चन्द्रमोहन जी महाराज को उनके सर्व समर्थ सिद्धों के स्वामी महावतारी 'बाबा' जी ने दिया था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त योग को राजर्षियों ने जाना।

क्रिया योग प्राचीन भारत का एवं आधुनिक भारत का रहस्यमय विज्ञान बना हुआ था। जिसको महावतारी "बाबा" जी ने सरल मार्ग से क्रिया योग का नाम दिया, जो आज भी सिद्धयोग के नाम से जाना जाता है। लाहिड़ी महाशय को यह उनके महान गुरु बाबा जी से प्राप्त हुआ था, जिन्होंने अन्धकार युगों में लुप्त हो जाने के बाद फिर से उसे प्रकट कर परिष्कृत किया। बाबाजी ने इसे क्रिया योग का सीधा नाम दिया।

बाबा जी ने लाहिड़ी महाशय से कहा था : "इस १९वीं शताब्दी में जो क्रिया योग मैं विश्व को तुम्हारे माध्यम से दे रहा हूँ, यही उसी विज्ञान का पुनरुत्थान है, जो श्रीकृष्ण ने सहस्राब्दियों पहले अर्जुन को दिया था और जो बाद में पतंजलि, ईसामसीह, सेंट जॉन, सेंट पॉल और ईसामसीह के अन्य शिष्यों को प्राप्त हुआ।"

भगवद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने क्रिया योग की चर्चा दो बार की है। एक श्लोक में वे कहते हैं :—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। गीता ४/२९/३०

दूसरे कितने योगी जन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं, तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।

योग के श्रेष्ठतम शास्त्रकार प्राचीन ऋषि पतंजलि ने क्रिया योग का दो बार उल्लेख किया है : "शारीरिक तप, मनोनिग्रह तथा ओम् का ध्यान मिलाकर क्रिया योग बनता है।" ध्यान में सुस्पष्ट सुनायी देने वाले ओम् नाद को ब्रह्मनाद को पतंजलि जी ईश्वर कहते हैं। ओम् सृष्टिकर्ता शब्दब्रह्म है, वह स्पन्दनशील सृष्टियन्त्र का गुंजन है, और ईश्वर के अस्तित्व का साक्षी है। योग का नया साधक भी शीघ्र ही ओम् की अद्भुत ध्वनि को सुन सकता है। इस परमानन्दमय आध्यात्मिक प्रोत्साहन से उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि सूक्ष्म लोकों से उसका सम्पर्क हो रहा है।

क्रियायोगी मन से अपनी प्राणशक्ति को मेरुदण्ड के ६ चक्रों (आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार) में ऊपर–नीचे घुमाता है। ये छह चक्र विराट् पुरुष के प्रतीक स्वरूप राशिचक्र की बारह राशियों के समान हैं। मनुष्य के सूक्ष्म ग्राही मेरुदण्ड में आधे मिनट के प्राणशक्ति के ऊपर नीचे प्रवहन से उसके क्रमविकास में सूक्ष्म प्रगति होती है। आधे मिनट की यह क्रिया एक वर्ष की स्वाभाविक तौर पर होने वाली आध्यात्मिक उन्नति के बराबर होती है। मानव के सूक्ष्म देह में सर्वदर्शी आध्यात्मिक नेत्र रूपी सूर्य की परिक्रमा करने वाली छह (ध्रुवता की गणना से बारह) चक्ररूपी राशियों के और स्थूल जगत् के सूर्य एवं बारह राशियों के बीच परस्पर सम्बन्ध है। इस प्रकार मनुष्य एक आन्तरिक और एक बाह्य विश्व से प्रभावित होते हैं।

अपने शरीर एवं मन का स्वामी बनकर क्रियायोगी अन्ततः "अन्तिम शत्रु मृत्यु पर विजय पा लेता है। जब मृत्यु ही एक बार मर जाय, तो फिर मरना कहां ! आत्म चिन्तन या "एकान्तवास" प्राणशक्ति से बंधे मन और इन्द्रियों को विलग करने का अवैज्ञानिक

प्रयास है। अपने ईश्वर की ओर लौटने की चेष्टा करते चिन्तनशील मन को प्राणधाराएँ बार-बार इन्द्रियों की ओर वापस खींच लाती हैं। सीधे प्राणशक्ति के ही द्वारा मन को नियंत्रित करने वाला क्रिया योग अन्ततः परम तत्व की ओर जाने का सबसे सरल सबसे प्रभावी और सबसे वैज्ञानिक मार्ग है।

योग की अमोघ और क्रमबद्ध फलोत्पादकता की ओर संकेत करते हुए भगवान श्री कृष्ण विधिवत् योगाभ्यास करने वाले योगी की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं :-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः।

-भगवद्गीता ६/४६

"योगी शारीरिक तप करने वाले तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानयोगियों से भी श्रेष्ठ है, अथवा कर्मयोगियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिये मेरे शिष्य अर्जुन ! तू योगी बन।"

भगवद्गीता में बार-बार जिस यज्ञ की महिमा का वर्णन किया गया है, वह यज्ञ क्रिया योग ही है। एकमेव अद्वितीय ईश्वर को समर्पित अद्वैत के हवन में योगी अपनी समस्त मानवीय इच्छा-वासनाओं की आहुति डाल देता है। यही वस्तुतः सच्चा यज्ञ है, जिसमें ईश-प्रेम की ज्वालाएँ सारी मानवीय पागलपनों की आहुति स्वीकार कर लेती है और मनुष्य मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है। लाक्षणिक तौर पर कहा जाय तो उसकी अस्थियों से वासनाओं का सारा मांस अलग हो जाता है, उसके कर्मों का अस्थिपंजर ज्ञान सूर्य की निर्जीवगुणकारी किरणों में सूखकर साफ हो जाता है और अंततः पूर्ण शुद्ध-स्वच्छ बनकर वह मानव एवं भगवान की दृष्टि में निरापद बन जाता है।

अन्त में हम यही कर सकते हैं कि "बाबाजी" की आध्यात्मिक अवस्था मानवी आकलनशक्ति से परे है।"

भारत में बाबा जी का कार्य रहा है जिन विशेष कार्यों के लिए अवतार लेकर इस जगत में आते हैं, उन कार्यों की पूर्ति में उनकी सहायता करना इस प्रकार शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार वे एक महावतार हैं। उन्होंने स्वयं बताया है कि सन्यास आश्रम के पुनर्संगठक एवं अद्वितीय तत्वज्ञानी जगत्गुरु आदि शंकराचार्य तथा सुप्रसिद्ध मध्ययुगीन संत कबीर को उन्होंने योग दीक्षा दी थी। परम पिता परमेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज "बाबा जी" को "अद्वितीय महागुरु या महामुनि, बाबा जी महाराज अथवा त्रयम्बक बाबा या शिव बाबा कई नामों से अलंकृत किया गया है।

❋ ❋ ❋

गुरु गुण गाए जा

–जगदीश बंसल राय "अधम" DGM गोहाना मंडी

बिगड़ी बनानी है तो, गुरु गुण गाए जा
योग के दिवाने तू चरणों शीश नवाए जा

मेरे गुरु ने लाखों की, बिगड़ी बनाई है
सोई हुई किस्मत, गुरु ने जगाई है
ले के नाम गुरु का, सदा मौज उड़ाए जा। बिगड़ी०

सुख में जो नाम–मेरे गुरु का गाएगा
दुख ना रहेगा सदा–सुख ही पाएगा
सुख हो या दुख हो–गुरु को मनाए जा।।२।।

सादी धोती कुर्ते वाला–गुरु जी निराला है
देवता भी पूजें जिनको, सदा मतवाला है
ऐसे सिद्धगुरु के चरणों फूल चढ़ाए जा।।३।।

मेरा गुरु जी वेद और शास्त्र का दाता है
चरणों में सदा जिनके सिद्धयोग बहता है
तू गुरु की ज्योति में, ज्योति को जलाए जा।।४।।

मेरे गुरु जी से चाहे, कुछ भी मांग ले
शरण में जाके के चाहे–योग गठड़ी बांध ले
ये अधम है बलिहारी आशीर्वाद लिए जा।।५।।

❊ ❊ ❊ ❊ ❊ ❊

नादानुसन्धान

लेखक–स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज

योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को। इस निरोध की स्पष्टता कठोपनिषद में नीचे के मन्त्रों में कही है–

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।

'जिस काल में योगाभ्यास के बल से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लय भाव को प्राप्त हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मीस्थिति, निर्वाण और अमनस्क–स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसी को कहते हैं।' यही बात योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने शिवसंहिता में कही है–

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्।।

'जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्तिरहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है।' यानी 'उपाधिविलयात्‌विष्णो'–के अनुसार अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जीव–ब्रह्म स्वरूप से तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।' यही बात दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कही है–

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।

'जीव–ब्रह्म का स्फुरणरूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि, जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण, दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है।' भगवान् शंकराचार्य जी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने **'योगतारावली'** ग्रन्थ में, नीचे के श्लोकों में बताया है–

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्।।

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।।

'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाये हैं, इन सबमें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान ! आपको नमस्कार है, आप परम पद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जायेंगे। योग साम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्यागकर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।'

शिवसंहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे–

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः।।

'सिद्धासन के तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भक के तुल्य कोई बल नहीं, खेचरी मुद्रा की बराबरी करने वाली और मुद्रा नहीं, मन को लय करने वाले साधनों में, अनहद नाद की तुलना करने वाला और कोई साधन नहीं।' मन को लय करने के अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहद नाद के प्रकट करने का गुप्त साधन

हर एक मनुष्य की देह में लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि परमात्मा के नाम का जप सद्गुरु मार्ग से कर लेता है तब अनहद नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायु की प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाड़ियाँ जल्दी शुद्ध होने से सवा कोटि जप सद्गुरुमार्ग से करने से ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकार का है, अभ्यास करते–करते जब दसवाँ नाद, जो बादल की गर्जना के तुल्य है, प्रकट हो तब नौ नादों को छोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवें नाद की पक्व अवस्था में प्राणवायु और मन ये दोनों ही लय हो जायेंगे। मन–पवन का लय होने पर शेष में ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाड़ी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः शनैः अनहद को सुरत के बल से दक्षिण कान से सुनते जाना चाहिये। अभ्यास की पक्व अवस्था में फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देगी। अन्त में कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्म में लय हो जायेगी। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जागकर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को भेद करके अनेक प्रकार के चमत्कार

दिखाती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति जागृत नहीं होती, तब तक मनुष्यों का ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभवरहित शास्त्रीय ज्ञान नक्शे की बम्बई के तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरण के बाद का अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे किसी ने आठ महीने घूम–घूमकर बम्बई की गली–गली देखी हो। इसी कारण से चतुर साधकों को चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरु की शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत करें, इसके जागने पर ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान करामलकवत् होकर मुक्ति प्राप्त होगी। दृश्यरूपी भ्रम, दृश्य के देखते रहने पर भी दुःखदायी न रहेगा।

त्रिबन्ध

नीचे लिखे हुए हठयोग के साधन बहुत ही लाभदायक हैं। इन साधनों से शरीर की निरोगता, भजन में निर्विघ्नता, प्राण–अपान की समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोग के चौरासी आसनों में सिद्धासन और पद्मासन मुख्य हैं, सिद्धासन की पक्व अवस्था में अपान प्राण में मिल जायेगा, योनि के पीड़न से अग्नि दीप्त होगी, स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं, तीनों बन्ध इस आसन में लगाने पड़ते हैं, इससे बन्धों का अभ्यास भी हो जायेगा। सिद्धासन के समय मूल बन्ध और खेचरी मुद्रा करने से अपानवायु प्राणवायु में मिल जायेगा। बद्ध पद्मासन से सब रोगों का नाश और बहत्तर हजार नाड़ियों का मल साफ हो जायेगा।

गुरुगम्य प्राणायाम करने से सब रोग नष्ट होते हैं। प्राणायाम में गलती होने से सब रोगों के होने की सम्भावना है। प्राणायाम के सम्यक् होने से, और वात, पित्त, कफ समता में रहने से शरीर निरोग रहता है। कुम्भक में मन मलरहित हो जाता है। धारणा से पापों का नाश होता है, प्रत्याहार से इन्द्रियों का जो विषयों से संसर्ग है, वह छूट जाता है। ध्यान से परमात्मा का ज्ञान होता है, समाधि से निर्लिप्त केवली भाव रूप मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। जैसे सोना अग्नि में तपाने से मैल को छोड़कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायाम रूपी वायुनिरोध से इन्द्रियाँ प्रमादरूपी अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगी का प्राण बहिर्गमन ही नहीं करता उसकी मृत्यु कैसी ? जिस योगी का केवल कुम्भक सिद्ध हो गया, उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मराठी भाषा के योग ग्रन्थ में एक नाथ जी ने लिखा है–

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छंद मृत्यूचें लक्षण।

जिस योगी ने प्राणवायु अपने वश में करके केवल कुम्भक की सिद्धि कर ली है, उसकी इच्छामृत्यु होती है।" देह रक्खे या न रक्खे, यह उसकी इच्छा के अधीन है। जैसे भीष्मपितामह ने अपनी देह को दक्षिणायन में न त्यागकर अपने इच्छानुसार उत्तरायण में त्यागा। यह प्राणविद्या की महिमा है। जहाँ तक प्राणवायु कुम्भक से निरुद्ध है, वहाँ तक मन भी वृत्तिरहित है, और दृष्टि भी भ्रकुटी में अचल है। ऐसी अवस्था में कालका भय नहीं है। चरणदास जी ने इसी प्राणायाम की महिमा नीचे लिखे शब्दों में कही है–

प्राणायाम बड़ा तप भाई प्राणायाम सम बल नहीं कोई।।
प्राणवायु कूँ यह सब लावे। मनकूँ निश्चल कर ठहरावे।।
आयुर्दाको यही बढ़ावे। तन में रोग रहन नहीं पावें।।
मोक्ष मार्ग को यह पहुँचावे। चरनदास शुकदेव सुनावें।।

प्राणायाम करते समय पूरक में मूलबन्ध, कुम्भक में जालन्धरबन्ध और रेचक में उड्डियानबन्ध करना ही चाहिये। ये तीनों बन्ध गुरु से ही सीखने चाहिये। लेख पर से या पुस्तकों में देखकर करने से हानि की सम्भावना है। बन्धों से ये लाभ है-

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।
बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः।।

मूलबंध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई।।
उर्ध्वरेता यासूँ सधे, दिन दिन आयु सवाई बढ़े।।
योग माहीं यह है प्रधान। बुढ़ी देह पलट होय जवान।।
जठराग्नि बाढ़े अधिकाय। जो चाहे सो बहुते खाय।।
यासों कारज सब बनि आवे। रोग रक्त के सभी नसावे।।
योगी पहिले यह आराधे। अपान वायु को नीके साधे।।

'मूलबन्ध और खेचरीमुद्रा के अभ्यास से अपान प्राण में जाकर मिल जाता है, अग्नि की दीप्ति से मल-मूत्र अल्प होता है, मूलबन्ध के सतत् अभ्यास से वृद्ध भी जवानतुल्य हो जाता है। जिस साधक ने मूलबन्ध पक्का कर लिया, उसके सब विघ्न मिट जाते हैं, और जैसे पञ्चमुख महादेवजी अजरामर हैं, वैसे ही केवल कुम्भक सिद्धिवाला योगी भी हो जाता है।' जालन्धरबन्ध से यह लाभ है-

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।।
जालन्धरं म हामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।

अपान वायुकूँ ऊपर लावे। प्राण वायु नीचे ले जावे।।
जो पै यह साधन बनि आवे। योगी वृद्ध होन नहिं पावे।।

जालन्धबन्ध में ठोढ़ी को नीचे झुकाकर हृदय के चार अंगुल ऊपर दृढ़ जमावे। इससे सोलह आधारों का बन्धन होता है, जालन्धरबन्ध और महामुद्रा ये दोनों मृत्यु को हटाने वाले हैं।

प्राणायाम में रेचक के समय नाभि पीछे खींचकर मेरुदण्ड से मिलाओ, इससे वायु सुषुम्ना में प्रवेश करेगा, अभ्यास करते-करते अन्त में ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जायेगा।

❊ ❊ ❊

प्रेरक प्रसंग (विनोबा भावे)

संतों में अकर्म की कला

प्रेषक–कृष्ण कुमार पाण्डेय (गोरखपुर)

कर्म कैसे अकर्म हो जाता है। यह कला संतों के पास बैठने से मिलती है। इसलिए संतों के पास जाकर बैठना और उनसे शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। परमेश्वर के दर्शन प्रसंग में आया है–शान्ताकारं भुजगशयनम् अर्थात यह परमेश्वर जो हमारे सर्पों के फण पर शांतिपूर्वक शयन करते हैं। जबकि वे फुफकार छोड़ते रहते हैं, क्योंकि उनका धर्म है। इसी प्रकार संत भी हजारों कर्म करते हैं पर उनके मानस सरोवर में जरा भी क्षोभ तरंग नहीं उठती है। वर्तमान युग काल में संतों और गुरुओं की कमी नहीं है। परन्तु शिक्षा उदार और सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञान की खैरात ही बाँट रहे हैं परन्तु ज्ञानामृत भोजन की डकार किसी से नहीं आ रही है। क्योंकि व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ के पहाड़ रास्ते में अड़े पड़े हैं। अनन्त उस पार है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्य का दिमाग अब तक खोखला ही कैसे बना हुआ है ? कोई कहता स्मरण शक्ति कमजोर है। कोई कहता एकाग्रता नहीं है। कोई कहता है कि विचार करने की फुरसत नहीं मिलती है किन्तु योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के माध्यम से समस्त मानव जाति के लिए कहते हैं कि–अर्जुन बहुत कुछ सुन सुनाकर तेरी बुद्धि चक्कर में पड़ गयी है। वह जब तक स्थिर नहीं होगी तब तक तुमको योग प्राप्ति नहीं हो सकती। सुनना और पढ़ना अब बन्द करके संतों की शरण लो। वहाँ से जीवन ग्रंथ पढ़ने को मिलेगा। वहाँ मौन व्याख्यान सुनकर तू छिन्न संशय हो जायेगा। वहाँ जाने से तुम्हें मालूम हो जायेगा कि लगातार सेवा कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यंत शांत रह सकता है। बाहर से कर्म का जोर रहते हुए भी हृदय में कैसे अखंड संगीत रूपी सितार मिलाया जा सकता है।

विनोबा जी के उक्त विचार आज बिल्कुल प्रासंगिक हैं। गुरुदेव भगवान भी इसलिए सदैव सत्संग की प्रेरणा देते रहते हैं। जिससे जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त किया जा सके।

❁❁❁

हिमालय के अमर महायोगी

पूर्णचन्द्र पन्त

अमृतसर में बैठे बैठे जम्मू स्थित अपने भक्त को अपना चित्र पकड़ाकर उसकी इच्छा को पूर्ण करना।

एक बार प्रभु जी ने छः महीने तक अपनी जटायें बढ़ा ली और मौन रहकर एकान्तवास करने लगे। उनका विचार तुरन्त हिमालय जाने का था। उनकी इच्छा को जानकर कई सिद्ध लोग एक साथ प्रभु जी के दर्शन करने आये और उन्होंने प्रभु जी से प्रार्थना की–प्रभो ! अभी आप कुछ समय तक भूमण्डल पर बने रहने की कृपा करें। उन लोगों की प्रार्थना पर प्रभु जी ने अगले दिन ही दाढ़ी जटायें कटवा दी और पूर्ववत पंडितवेश में रहकर जन कल्याण करने लगे। उन सिद्ध महात्माओं में एक प्रभु जी का परम कृपापात्र शिष्य भी था जो जम्मू के निकट पहाड़ में स्थित एक अदृश्य गुफा में समाधिस्थ रहा करता था। उस महात्मा ने उस समय लाला चुन्नीलाल की कोठी पर जहाँ उन दिनों प्रभु जी निवास कर रहे थे उनका एक बहुत सुन्दर चित्र देखा। उसे देखकर उस महात्मा के मन में यह प्रबल इच्छा हुई कि यह चित्र किसी प्रकार मुझे मिल जाये। अपनी गुफा में लौट जाने के बाद भी वह महात्मा प्रायः नित्य ही उस चित्र के बारे चिन्तन किया करता था। एक दिन प्रभु जी ने अमृतसर में बैठे बैठे ही वह चित्र उसे उसकी गुफा में पकड़ा दिया। अपना अभिलषित चित्र पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वह चित्र प्रभु जी द्वारा शक्तिपातित्त था और उनके तेज से परिपूरित था। अतः उस चित्र से वह योगी उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर बढ़ता चला गया और सब प्रकार की योग–सिद्धियों का स्वामी बन गया। इस रहस्य का किसी को पता नहीं चला।

उधर अमृतसर में प्रभु दरबार में उस चित्र को न देखकर सब लोग बड़े परेशान हुए। कई दिनों तक चित्र की तलाश होती रही। जब भी दो–चार लोग आपस में मिलते तो चित्र की चर्चा अवश्य चलती और सभी कहा करते थे कि चित्र बहुत अच्छा था न मालूम कौन चुराकर ले गया है ? तब उन लोगों को परेशान देखकर प्रभु जी बोले–अरे ! किसी चोर के मतलब का तो यह चित्र था नहीं, जो भी उसे ले गया वह कोई हमारा भक्त होगा और भक्तिभाव से ही ले गया होगा। अतः तुम लोग अब उस चित्र को भूल जाओ।

महात्मा ऋषिदेवी को उच्चतम ध्यानस्थिति प्रदान करना

महात्मा ऋषिदेवी जी प्रभु जी की विशेष कृपापात्र रही है। वे अमृतसर (पंजाब) की रहने वाली थी। उनको अपने बाल्यकाल में दीक्षा सम्बन्ध जुड़ने से पूर्व ही प्रभु रामलाल जी के दर्शन हो गए थे। पूर्व संस्कारवश जन्म से ही उनकी योगमार्ग में प्रवृत्ति थी और उनके मन में सात्विक भाव बने रहते थे। उन्होंने बचपन में एक गाय की प्रेम से खूब सेवा की, जिसके फलस्वरुप उन्होंने ध्यानावस्था में उस गाय को दिव्य रूप में देखा और उससे कई आर्शीवाद प्राप्त किए। लगभग २८ वर्ष की अवस्था में उन्हें श्री प्रभु जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसके कुछ दिन पश्चात ही उन्हें विधिवत् योगदीक्षा प्राप्त हो गई। दीक्षा ग्रहण के पश्चात् उनको तत्काल दिव्य अनुभूतियां जारी हो गई। आरम्भ में उन्होंने स्वर्गादि लोकों के दृश्यों को देखा। ध्यानावस्था में वे जिस-जिस लोक में भी जाती थी वहां देखती थी कि सभी देवी-देवता श्री प्रभु जी को प्रणाम कर रहे है। और उनकी आरती उतार रहे हैं। ध्यानावस्था में ही उन्हें श्री प्रभु जी ने चारों वेद, छः शास्त्रों और पुराणों का ज्ञान करा दिया था। समाधि अवस्था में वे भगवान शिव में लय हो जाया करती थी। श्री प्रभु जी की कृपा से वे सात-सात दिन तक समाधिस्थ रहा करती थीं। रिद्धि-सिद्धि सदैव उनके साथ रहा करती थी। इतनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी उनके अन्दर लेशमात्र भी अहंकार नहीं था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे शक्ति सम्पन्ना होते हुए भी विनम्र थी।

कालान्तर में ध्यानावस्था में ही श्रीं प्रभु जी से आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने भूषणपुरा अमृतसर में सती आश्रम की स्थापना कर दी और नैत्यिक सत्संग आरम्भ कर दिया। उनके द्वारा बहुत से जीवों का कल्याण हुआ है। उनके सत्संग में कितनी ही देवियां आई जो आधि-व्याधि से पीड़ित थीं। वे सब उनके आर्शीवाद से उन दुखों से मुक्त हो गई और उनका भी ध्यान लगना आरम्भ हो गया। ऋषिदेवी जी का जीवन पूर्णरूपेण परोपकार मय रहा है। स्वयं अनेकों कष्ट उठाकर भी वे प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी कार्यों में सदैव संलग्न रही। शरीर वृद्ध हो जाने पर भी अपने जीवन के अन्तिम वर्षों तक वे महिलाओं में योग प्रचार कार्य करती रही।

योगिनी द्रौपदी देवी जी की शरणागति

माता द्रौपदी जी का जन्म अमृतसर (पंजाब) में एक पवित्र क्षत्रिय कुल में हुआ था। उनका बचपन बड़े लाड प्यार में व्यतीत हुआ। उस समय की सामाजिक परम्परा का

पालन करते हुए उनके माता पिता ने अल्पायु में ही अपनी लाडली बेटी का विवाह कर दिया। किन्तु विधाता का विधान कुछ ऐसा रहा कि विवाह के कुछ समय बाद ही वे विधवा हो गईं। उनका रुझान ईश्वर भक्ति और संकीर्तन की ओर बचपन से ही था। वैधव्य जीवन प्राप्त हो जाने पर भक्ति मार्ग में उनका अनुराग और बढ़ गया।

भगवान श्री कृष्ण में उनका विशेष अनुराग था। अतः वे उन्हीं का चिन्तन किया करती थीं। जन्म–जन्मांतर के पुण्यों के उदय होने के फलस्वरूप कुछ समय बाद संयोगवश एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने उन्हें एक सद्गुरु से मिला दिया। वे किसी कार्यवश हाल बाजार में गई हुई थी। जब वे बाजार पार करती हुई घर को लौटने लगी तो उन्हें सामने से आँखें बन्द किये हुये और बड़ी मस्ती के साथ भीड़–भाड़ भरे उस बाजार में चलते हुए योगिराज मुलखराज जी के दर्शन हुए। उनका चेहरा तेज से देदीप्यमान था. आँखें ऊपर की ओर चढ़ी हुई थी और चाल में एक अजीब से मस्ती थी। वे रिक्सा, टाँगा और मोटर आदि वाहनों की परवाह न करते हुए तेज कदमों से भीड़ को पार करते हुए चले जा रहे थे। माता द्रौपदी देवी जी आश्चर्य चकित होकर उन्हें देखती रहीं तब वे कुछ दूर चले गये तो उन्होंने जिज्ञासावश किसी से पूछ लिया कि ये महात्मा कौन हैं और कहां जा रहे हैं ? उत्तर में उसने कहा–ये एक परिपूर्ण सिद्ध योगिराज रामलाल जी के शिष्य हैं और उनके पास ही जा रहे हैं। यह सुनकर उनका कौतूहल और अधिक बढ़ गया और वे मन में विचार करने लगी कि जिनके शिष्य की इतनी ऊँची ध्यान स्थिति है वे योगीराज तो निश्चित ही बहुत बड़े सिद्ध होंगे। अतः आपका दर्शन अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा निश्चय करके वे तीव्र गति से उसी दिशा की ओर चल पड़ी जिस ओर मुलखराज जी गये थे। कुछ मिनटों में ही वे उनके निकट पहुंच गईं और चुपचाप उनके पीछे पीछे चलती रहीं।

जब वे दोनों प्रभु के दरबार में पहुंचे तो उस समय वहां सत्संग चल रहा था और भक्त लोग भावविभोर होकर संकीर्तन कर रहे थे। प्रभु जी के चरणारविन्दों में पहुंचकर मुलखराज जी ने उन्हें दण्डवत प्रणाम किया। द्रौपदी जी ने भी उन्हें उनका अनुकरण करते हुए प्रभु जी को साष्टांग प्रणाम किया और उनका संकेत पाकर बैठ गईं।

संकीर्तन का कार्यक्रम चलता रहा। भजन पूरा होते ही प्रभु जी ने द्रौपदी जी की ओर स्नेहमयी दृष्टि से निहारते हुए कहा–"बेटी ! क्या तुम भी कुछ सुनाओगी ? "

आज्ञा पाते ही द्रौपदी जी ने सिर झुकाकर प्रभु जी को प्रणाम किया और अपने

इष्टदेव श्री कृष्ण जी की स्तुति में एक भजन सुनाया जिसे सुनकर सब लोग मुग्ध हो गये। भजन सुनकर प्रभु जी भी बड़े प्रसन्न हुए और बोले– "बेटी ! तुम्हारे बहुत अच्छे भाव है और गाती भी बहुत अच्छा हो। तुम्हें कुछ देने का मन कर रहा है पर समझ में नहीं आता कि क्या दूँ।"

यह सुन पास में बैठे गुलखराज जी अत्यन्त विनम्रपूर्वक झट से बोल पड़े–प्रभु जी ! इसे योगिनी चूडाला जैसी ध्यानास्थिति दे दो।"

इस पर प्रभु जी गम्भीर होकर बोले–तुमने इस लडकी के लिए बहुत बड़ी चीज मांग ली है। तुम्हारे कहने पर हम ऐसा ही वर देते हैं। आज से ही इस लडकी का ध्यान लगना आरम्भ हो जाएगा और ध्यान में यह भगवान विष्णु के चतुर्भुज रूप में लय रहा करेगी। इस कृपा के लिये आभार व्यक्त करती हुई देवी द्रौपदी अपने स्थान पर बैठी बैठी प्रभु जी को बार–बार प्रणाम करती रही। वे कुछ समय तक वहीं बैठी रही और फिर प्रभु जी की आज्ञा पाकर घर को लौट गई। घर का काम जल्दी जल्दी निपटाकर सन्ध्याकाल होते ही वे अपने ईष्टदेव श्री कृष्ण की आरती उतारकर ध्यान में बैठ गई। कुछ क्षणों में ही उनका मन इतना एकाग्र हो गया कि उन्हें बाह्य बोध कुछ भी नहीं रहा और वे स्वयं को ही कृष्ण रूप में देखने लगी। बहुत देर बाद उसका ध्यान खुला। ध्यान से उठने के बाद उन्हें अपना शरीर फूल की तरह हल्का अनुभव हुआ और मन में बड़ा आल्हाद बना रहा।

प्रभु जी से विधिवत् योगदीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे नित्य तुरीयावस्था में रहती थी और जब भी ध्यानाभ्यास में बैठती तो तत्काल ही श्री कृष्ण के चतुर्भुज रूप में लय हो जाया करती थी। जब वे प्रेमपूर्वक भगवान को भोजन परोसकर नैवेद्य अर्पण करती तो भोजन की थाली से ग्रास टूटकर वहीं विलीन हो जाया करता था जिसे कई ध्यानावासियों ने भी देखा था। योगिनी द्रौपदी देवी जी तो श्री कृष्ण को साक्षात् भोजन करते हुए ही देखा करती थी।

वे जीवनभर योगपरायणा रही और साधना के साथ दूसरों के कल्याण के उद्देश्य से अपने घर ही महिला सत्संग भी चलाया करती थी। उन्हें अपनी मृत्यु का कई मास पूर्व ज्ञान हो गया था। अतः मृत्यु से कुछ दिन पूर्व वे अपने गुरुधाम सिद्धगुफा संवाई पहुँच गई और वहां रहकर अनवरत प्रभु चिन्तन करती रहीं और अन्त में प्रभु स्मरण करते हुए अपनी नश्वर देह का परित्याग करके वे प्रभु जी के धाम को चली गई।

❊❊❊

वंश-परंपरा और सूर्यवंश

पुराणों में ऋषिवंश या राजवंश का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसका आरम्भ वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ से ही होता है। इतने समय में सत्ताईस चतुर्युगी व्यतीत हो चुकी है और अट्ठाईसवें चतुर्युगी के भी तीन युग व्यतीत हो गये है। इस अवधि में चौथा कलियुग चल रहा है। इतने लम्बे काल के इतिहास की रूपरेखा हमारे यहाँ सुरक्षित है। किंतु हमारा दुर्भाग्य है कि इस बात पर हमारे ही देश के अधिकतर आधुनिक विद्वान् विश्वास नहीं करते। वे युग शब्द के भिन्न–भिन्न तथा अनर्गल अर्थ लगाकर समय के संकोच की प्रक्रिया में लगे हुए है। कुछ लोग 'युग' शब्द को अंग्रेजी के 'पीरियड' शब्द का समानार्थक मानते है, जैसे आजकाल हिन्दी में 'भारतेन्दु युग', 'द्विवेदी युग' इत्यादि व्यवहृत होते है। कुछ विद्वान पुराणों में वर्णित बारह हजार देव वर्ष की चतुर्युगी को ही मानुषवर्ष मानते हैं। बंगीय साहित्य–परिषद् के श्रीगिरीशचन्द्र बसु ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर पुराने ऋषि, राजा आदि को बहुत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न अपनी 'पुराण–प्रवेश' नामक पुस्तक में किया है। सृष्टि की वंश–परंपरा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न किया गया तथा कल्पनाएँ की गयी, पुराणों में उन कल्पनाओं के विरुद्ध उतने ही अधिक प्रमाण मिलते गये है। इसलिये विरोध में जब तक कोई दृढ और सर्वमान्य प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाता, जब तक हम वैवस्वत मनु से ही अपने इतिहास का आरम्भ मानने के लिए विवश है।

आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यदि वैवस्वत मनु से राजाओं की वंश–परंपरा मानी गयी है तो पुराणों में इतने अल्प नाम क्यों आये हैं ? नामों की संख्या तो हजारों–लाखों तक जा सकती थी ? इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि पुराणों में प्रत्येक राजा की हजारों वर्षों की आयु लिखी है, जो पुराणकर्ताओं की कोरी कल्पना तथा अविश्वसनीय बात है।

उदाहरणस्वरूप वाल्मीकीय रामायण में वर्णित महाराज दशरथ के इस वाक्य को लीजिये कि–

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।

(१/२०/१०–११)

हे कौशिक! मैंने साठ हजार वर्षों की आयु बिताकर इस वृद्धावस्था में बड़ी कठिनता से राम को पाया है। अतः मैं इन्हें देने में असमर्थ हूँ।' इतना ही नहीं, 'राम' के विषय में भी कहा गया है कि–

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।।

'दस हजार, दस सौ वर्ष राज्य करने के बाद राम ब्रह्मलोक को जायेंगे।' पुराणों में वर्णित इस तरह के सारे वाक्य अनर्गल हैं।

पर, हमारे ये विद्वान् इन ग्रन्थों के रचनाकाल का ज्ञान ठीक से नहीं रखते हैं और न यह बात ही जानते हैं कि शब्दों के अर्थों में कब और कितना परिवर्तन हुआ और हो रहा है। प्राचीन मीमांसदर्शन में 'वर्ष' शब्द का अर्थ 'दिन' आया है। इस विषय पर मीमांसदर्शन में अनेक विचार हैं और वहीं यह भी कहा गया है कि 'शतायुर्वै पुरुषः' अर्थात् मनुष्य की आयु सौ वर्ष ही श्रुति में मानी गयी है। उसके विरुद्ध अधिक आयु मनुष्य की नहीं मानी जा सकती। श्रुति में ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि सौ वर्ष से ऊपर भी मनुष्यों का जीवन होता है। किंतु ज्योतिषशास्त्र में अधिक से अधिक एक सौ बीस या एक सौ चौवालीस वर्ष की आयु निश्चित की गयी है। जहाँ वर्ष शब्द का अर्थ दिन मानने पर आयु बहुत अधिक प्रतीत हो, वहाँ एक हजार वर्ष का अर्थ एक वर्ष मानना चाहिए। इस प्रकार दशरथ के साठ हजार वर्ष वाले कथन में साठ हजार वर्ष शब्द का अर्थ होगा—पूरे साठ वर्ष। स्मृति या पुराणों में सत्ययुग, त्रेतायुग आदि में जो चार सौ या तीन सौ वर्ष की मनुष्य की आयु लिखी गयी है, उसका तात्पर्य है कि सत्ययुग, त्रेतायुग आदि का परिमाण कलियुग से चतुर्गुण या त्रिगुण माना जाता है। इसलिये कलियुग के सौ वर्ष ही उन युगों के चार सौ या तीन सौ कहे जाते हैं। इससे उन वाक्यों का श्रुति से विरोध नहीं समझना चाहिये।

इसी प्रकार बहुत—बहुत काल के अन्तर पर होने वाले राजाओं के समय में भी किसी एक ऋषि के ही अस्तित्व का वर्णन पुराणों में पाया जाता है। उदाहरण के लिए वशिष्ठ और विश्वामित्र के अस्तित्व को लिया जा सकता है, जो हरिश्चन्द्र और उनके पिता त्रिशंकु आदि राजाओं के समय में भी उपस्थित हैं तथा दशरथ और राम के समय में भी। इसी प्रकार परशुराम, भगवान् राम के समय में उनसे धनुर्भंग के कारण विवाद करते देखे जाते हैं और महाभारत काल में भी भीष्म, कर्ण आदि को उन्होंने विद्या पढ़ायी, ऐसा भी प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि नाम कुलपारम्परिक नाम का बोधक है। जब तक किसी विशेष कारण से—प्रवर आदि की गणना के लिये नाम का परिवर्तन नहीं होता तब तक वहीं नाम चलता रहता था, किन्तु भगवान् राम के राज्य का समय इतना लम्बा किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतः समय का संकोच करना आवश्यक होगा। इसलिये दस सहस्र वर्ष का अर्थ है—सौ वर्ष और दशशत वर्ष का अर्थ है—दस वर्ष, अर्थात् राम ने एक सौ दस वर्षों तक राज्य करके ब्रह्मसायुज्य प्राप्त किया था। जहाँ तक वंश—परम्परा में अत्यल्प नामों की चर्चा है, उसके सम्बन्ध में कहना है कि पुराणों की

वंश-परम्परा में क्रमबद्ध सभी राजाओं के नाम नहीं दिये गये हैं, अपितु जिस वंश में जो अत्यन्त प्रधान राजा हुए, उनके ही नाम पुराणों में वर्णित है। अनेक वर्णन-प्रसंग में पुत्रादि शब्द का अर्थ उनका वंशज है। उदाहरण-राम के लिए 'रघुनन्दन' शब्द का व्यवहार आनुवंशिक है, न कि रघु का पुत्र। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित वाक्य से भी होती है-

अपत्यं पितुरेव स्यात् ततः प्राचामपीति च।

अर्थात् 'पिता का जो अपत्य होता ही है, उसके पूर्व पुरुषों का भी वह अपत्य कहा जाता है।' इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवत में परीक्षित् के द्वारा राजाओं के वंश पूछने पर श्रीशुकदेव जी का उत्तर है कि-

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि।।

(९/१/७)

'वैवस्वत मनु का मैं प्रधानरूप से वंश सुनाता हूँ। इसका विस्तार तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।' इससे सिद्ध है कि वंश के नाम बहुत अधिक हैं। 'लिंगपुराण' तथा 'वायुपुराण' (उत्त०, अ० २६, श्लोक २१२)-में भी राजाओं के वंश-कीर्तन के अन्त में लिखा गया है कि-

एते इक्ष्वाकुदायादा राजानः प्रायशः स्मृताः।
वंशे प्रधाना एतस्मिन् प्राधान्येन प्रकीर्तिताः।।

'इक्ष्वाकु-वंश के प्रायः प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम कहे गये हैं।' यही कारण है कि जिनका विवाह आदि सम्बन्ध पुराणों में लिखा है, उनकी पीढ़ियों से बहुत भेद पड़ता है। उदाहरण के तौर पर इक्ष्वाकु के तीन पुत्र विकुक्षि, निमि और दण्डक कहे गये हैं। इनमें विकुक्षि के वंश में प्रायः ५५ पुरुषों के अनन्तर राम का अवतार वर्णित है और निमि के वंश में प्रायः इक्कीस पीढ़ी के अनन्तर ही सीता के पिता सीरध्वज जनक का नाम आता है। इस तरह दोनों की पीढ़ियों में लगभग एक हजार वर्षों का अन्तर असम्भव-सा लगता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों वंशों के प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम पुराणों में गिनाये गये हैं। अतः जिस राजवंश में प्रधान और प्रतापी राजा अधिक हुए, उस वंश के अधिक नाम आ गये हैं और जिस वंश में प्रधान राजा न्यून हुए, वहाँ न्यून नाम की गणना हुई है। राजाओं के वंश-वर्णन में ऐसा भी भेद देखा जाता है कि किसी एक पुराण में एक वंश के राजाओं के जो नाम मिलते हैं, वे दूसरे पुराणों में नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि जिस पुराणकार की दृष्टि में जो राजा प्रतापवान् और उल्लेखनीय माने गये हैं, उन्हीं के नाम उस पुराणकार ने गिनाये।

कुछ पुराणकारों ने तो संक्षिप्तीकरण के विचार से भी ऐसा किया है। पुराणों में वंश

आदि के वक्ता पृथक्–पृथक् ऋषि आदि हैं, जो पुराणवाचकों को स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि पुराणों की पीढ़ियों में प्रधान–प्रधान राजाओं के ही नाम गिनाये गये हैं और भेद भी मिल जाते हैं। राजवंशों के नाम बहुत पुराणकारों ने लोकश्रुति के आधार पर भी लिखा है, जिस लोकश्रुति में सम्पूर्ण राजवंश के प्रत्येक राजा का नाम आना असम्भव था। लोकश्रुति तो प्रधान और अवतारी पुरुषों का ही स्मरण रखती है, अन्य लोगों को छाँटकर किनारे कर देती है। किंतु वंशानुगत यदि सभी राजाओं के नाम और समय उपलब्ध हो जाते तो ठीक–ठीक काल–गणना का आधार प्राप्त हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः पुराणों में काल–गणना का जो विस्तार वैज्ञानिक रीति से किया गया है, उसे न मानकर अपनी प्रज्ञा से उसका संकोच करना उपयुक्त नहीं है।

सूर्यवंश का विवेचन

संक्षिप्त रूप से काल के निरूपण और अनुपपत्तियों के समाधान के निमित्त कुछ अन्य बातों के साथ राजवंशों का विवेचन आरम्भ किया जाता है। ऋषियों के वर्णन का क्रम पुराणों में प्रायः नहीं मिलता। किसी–किसी पुराण में ऋषियों के वंश का कुछ अंश कहा गया है, पर राजवंशों की तरह ऋषि–वंशानुगत क्रम नहीं मिलता। इन पुराणों में भारतीय राजाओं के तीन वंश माने गये हैं–सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा अग्निवंश। इन तीन दीप्त पदार्थों के नाम पर क्षत्रिय–वंश की कल्पना का रहस्य यह है कि सृष्टि में तेज तीन प्रकार का ही प्रसिद्ध है–सूर्य का प्रखर तेज, चन्द्र का शीतल तेज और अग्नि का अल्प स्थान में व्याप्त दाहक तेज। इनमें भी मुख्य रूप से सूर्य का ही तेज के घन है। चन्द्रमा का तेज केवल प्रकाश–रूप है। उसमें उष्णता नहीं है। यह प्रकाश भी सूर्य से ही प्राप्त है। अग्नि में भी तेज सूर्य के सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। विष्णु पुराण का कहना है कि सूर्य जब अस्ताचल को जाते हैं, तब अपना तेज अग्नि में अर्पित कर जाते हैं, इसीलिये अग्नि की ज्वाला रात्रि में दूर से दिखायी देती है और दिन में जब सूर्य अग्नि से अपना तेज ले लेते हैं, तब अग्नि का केवल धूम ही दिखायी देता है–दूर से ज्वाला नहीं दीख पड़ती। यही कारण है कि पुराणों में सूर्य वंश ही मुख्य माना गया है। चन्द्रवंश और अग्निवंश को उसी के शाखा रूप में प्रतिपादित किया गया है। इनमें भी अग्निवंश का वर्णन पुराणों में अल्प मात्रा में ही प्राप्त होता है। महाभारत–युद्ध के अनन्तर ही चौहान आदि अग्निवंशियों का प्रभाव इतिहास में दीख पड़ता है। महाभारत–युद्ध तक सूर्यवंश और चन्द्रवंश का ही विस्तार मिलता है।

(क्रमशः)

❋❋❋

भौतिक भोग के इस युग में योग का अवलम्बन ही करेगा आपका कल्याण

उत्तम और सफल जीवन की एकमात्र विश्वसनीय कुंजी है योग !

योग-पथ पर बढ़ने हेतु सिद्धयोग की शरण लीजिए

सिद्धयोग

पढ़िये-पढ़ाइये !

योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक-पत्र

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/06-08
MAY 2006

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग विद्याओं का प्रतिपादक अध्यात्मिक का निर्भय पाक्षिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंदाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

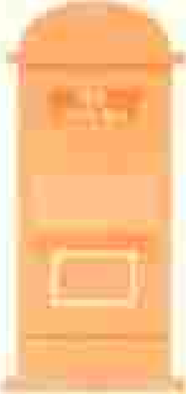

उत्पाद (आपके) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना -

विभिन्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible]
6. [illegible]
7. [illegible]

संस्थापक–योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डा. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंदाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर. एन. आई. रजि. नं. UPHIN/2004/14566; सम्पादक : आचार्य प्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा